।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

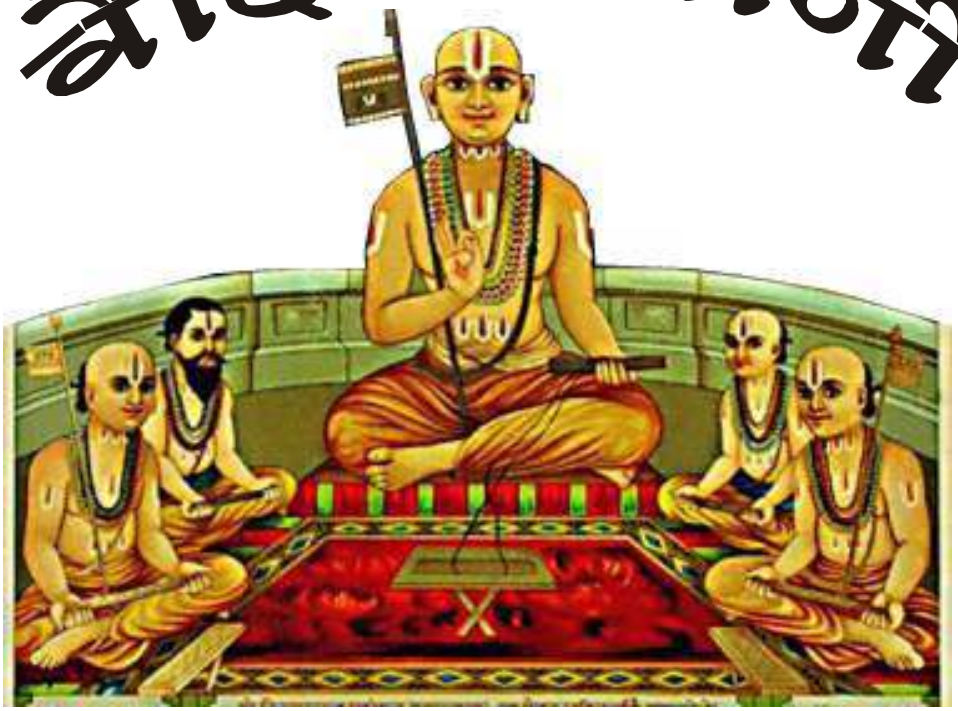

वर्ष- २६ दिसम्बर सन्- २०१३ ई०	श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)	अंक- २ रामानुजाब्द ९९६ त्रैमासिक प्रकाशन

हताखिलक्लेशमलैः स्वभावतः सदानुकूल्यैकरसैस्तवोचितैः ।
गृहीततत्तत्परिचारसाधनैः निषेव्यमानं सचिवैर्यथोचितम् ।।

अर्थात् जिनके समुदय दुःख तथा मालिन्य का नाश हो गया है, स्वभाव से ही आपकी इच्छा के अनुरूप रहना जिनका एकमात्र लक्ष्य है, जो लोग सर्व प्रकार से आपके लिये उपयोगी हैं, जो सर्वदा अपने सेवाकर्म के साधन धारण किए रहते हैं, आप उन समस्त सचिवों द्वारा उचित प्रकार से सेवित होते रहते हैं ।।

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

****

क्रम सं०	विषय	पृ०सं०
१.	जीवात्मा का स्वरूप	३
२.	भगवान श्रीराम की सुलभता	४
३.	सीता विवाह का गुप्त रहस्य बताया जनक ने	६
४.	नामरूप विभाजन का वर्णन	६
५.	ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक अवश्य धारण करें	८
६.	हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ	११
७.	गीतार्थ सङ्ग्रह	१४
८.	धर्म और सम्प्रदाय	१७
९.	सूझ उत्पन्न करने वाली कथा	२०
१०.	विधवा विवाह निषेध	२२
११.	प्रेम के वंश में भगवान	२५
१२.	सुमित्रा को श्रीराम तत्त्व का पूर्ण ज्ञान था	२७
१३.	भगवद्भक्तों की मुक्ति में उत्तरायण दक्षिणायन का भेद नहीं	२९
१४.	एक ही ब्रह्म सगुण निर्गुण दोनों हैं	३१
१५.	भगवान की उदारता	३३
१६.	नारायण की श्रेष्ठता एवं उनके अवतार का स्वरूप	३७
१७.	मुहूर्त्त, व्रत-तालिका	१६,४०

●

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।

२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) २५ रुपये तथा आजीवन सदस्यता ४०१ रुपये मात्र हैं।

३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।

४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।

५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

—सम्पादक

वैदिक-वाणी

जीवात्मा का स्वरूप

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः।।

मनुष्य का हृदय अङ्गूठे का नाप का माना गया है और हृदय में ही जीवात्माका निवास है। इसलिये उसे अङ्गुष्ठमात्र-अङ्गूठे के नाप का कहा जाता है। उसका वास्तविक स्वरूप सूर्य की भाँति प्रकाशमय (विज्ञानमय) है। उसे अज्ञानरूपी अन्धकार छू तक नहीं गया है। वह सङ्कल्प और अहङ्कार– इन दोनों से युक्त हो रहा है, अत: सङ्कल्परूप बुद्धि के गुण से अर्थात् अन्त:करण और इन्द्रियों के धर्मों से तथा अर्हतारूप अपने गुण से अर्थात् अर्हता ममता आदि से सम्बद्ध होने के कारण सूजे की नोक के समान सूक्ष्म आकार वाला है और परमात्मा से भिन्न है। जीव के तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानी पुरुषों ने गुणों से युक्त हुए जीवात्मा का स्वरूप ऐसा ही देखा है। तात्पर्य यह कि आत्मा का स्वरूप वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म जड़ पदार्थ उसकी तुलना में स्थूल ही ठहरता है। उसकी सूक्ष्मता किसी भी जड़ पदार्थ के परिमाण से नहीं मापी जा सकती। केवल उसका लक्ष्य कराने के लिये उसे सम्बद्ध वस्तु के आकार का बताया जाता है। हृदय-देश में स्थित होने के कारण उसे अङ्गुष्ठपरिमाण कहा जाता है और बुद्धिगण तथा आत्मगुण के सम्बन्ध से उसे सूजे की नोक के आकार का कहा गया है, बुद्धि आदि को सूई की नोक के समान कहा गया है, इसी से जीवात्मा को यहाँ सूजे की नोक के सदृश बताया गया है।

पूर्व मन्त्र में जीवात्मा का स्वरूप सूजे की नोक के सदृश सूक्ष्म बताया गया है, उसे समझने में भ्रम हो सकता है, अत: उसे भली भाँति समझाने के लिए पुन: इस प्रकार कहते हैं। मान लीजिये कि एक बाल की नोक के हम सौ टुकड़े कर लें, फिर उनमें से एक टुकड़े के पुन: सौ टुकड़े कर लें। उनमें से एक टुकड़ा जितना सूक्ष्म हो सकता है, अर्थात् बालकी नोक के दस हजार भाग करने पर उनमें से एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, उसके समान जीवात्मा का स्वरूप समझना चाहिये। यह कहना भी केवल उसकी सूक्ष्मता का लक्ष्य कराने के लिये ही है। वास्तव में चेतन और सूक्ष्म वस्तु का स्वरूप जड़ और स्थूल वस्तु की उपमा से नहीं समझाया जा सकता; क्योंकि बाल की नोक के दस हजार भागों में से एक भाग भी आकाश में जितने देश को रोकता है, उतना भी जीवात्मा नहीं रोकता। चेतन और सूक्ष्म वस्तु का जड़ और स्थूल देश के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, वह सूक्ष्म होने पर भी स्थूल वस्तु में सर्वत्र व्याप्त रह सकता है। इसी भाव को समझाने के लिए अन्त में कहा गया है कि वह इतना सूक्ष्म होने पर भी अनन्त भाव से युक्त होने में अर्थात् असीम होने में समर्थ है। भाव यह है कि वह जड़ जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। केवल बुद्धि के गुण सङ्कल्प से और अपने गुणरूप अहङ्कार से युक्त होने के कारण ही एक देशीय बन रहा है।

जीवात्मा वास्तव में न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जब जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही दूसरे जन्म में पुरुष हो सकता है, जो पुरुष है, वह

स्त्री हो सकता है। भाव यह कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीर को लेकर हैं, जीवात्मा सर्वभेदशून्य है, सारी उपाधियों से रहित है। जीवात्मा परमात्मा का स्वतः सिद्व दास है—

दासभूताः स्वतः सर्वेह्यात्मानः परमात्मनः ।

नौ प्रकार का सम्बन्ध जीवात्मा का परमात्मा के साथ है। मायावश जीवात्मा उन सम्बन्धों को भूल गया है उसका स्मरण सच्चे सन्त ही कराते हैं।

●

भगवान श्रीकृष्ण की सुलभता

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।

भगवान श्रीकृष्ण सबके ईश्वर हैं, जगत् का सृजन, पालन और संहार उनकी लीला मात्र है। समस्त भोग उन्हें प्राप्त हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उन्हें प्राप्त न हो। यद्यपि वे सत्यसङ्कल्प और परमानन्द स्वरूप हैं, फिर भी भक्त के द्वारा प्रेमपूर्वक समर्पित पत्र, पुष्पादि को, भगवान समझते हैं कि मुझे मन की कल्पनाओं में भी न आ सकने वाली कोई परम प्रिय वस्तु मिल गयी है। इसलिए उसे खा जाते हें, अर्थात् ग्रहण कर लेते हैं। इस श्लोक में भगवान ने भक्तों के द्वारा प्रेमपूर्वक सपर्पित पत्र, पुष्प, फल और तोय इन चार चीजों को ग्रहण करने के लिए कहा है। इन चारों के उदाहरण भी मिल जाते हैं। जैसे–द्रौपदी के ऊपर पत्र से, गजेन्द्र के ऊपर पुष्प से, शवरी के ऊपर फल से और रन्तिदेव के ऊपर जल से भगवान की कृपा हुई थी।

यहाँ पत्र से किस चीज का पत्ता भगवान के लिए प्रिय है यह नहीं कहा गया है; परन्तु शास्त्रों में ऐसा उल्लेख है कि तुलसी पत्र भगवान के लिए विशेष प्रिय है। ***'तुलसीदल मात्रेन विक्रियते हरिः स्वयम्'*** अर्थात् जो प्रेम पूर्वक भगवान के चरणों में तुलसीदल समर्पण करता है, भगवान उसके हाथ में बिक जाते हैं। अत एव सर्वत्र भगवत्पूजन काल में तुलसीपत्र का ही प्रयोग होता है। तुलसीपत्र के बिना अर्चा मूर्ति की पूजा होती ही नहीं। भगवान के लिए समर्पित किये जाने वाले सभी पदार्थों में तुलसीपत्र अवश्य दिया जाता है। प्रभु की प्रसन्नता के लिए भी अष्टोतरशतनाम या सहस्त्रनाम से उनके चरणों में तुलसीपत्र ही समर्पण किये जाते हैं।

पत्र, पुष्पादि के नाम लेकर कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान इन चार चीजों को ही स्वीकार करते हैं। उनका कहने का भाव है कि पत्र पुष्पादि ये चार पदार्थ निर्धन हो या धनी सबके लिए सुलभ हैं, दुध, घी, अन्न आदि पदार्थ सबों के पास नहीं भी हो सकते हैं; परन्तु पत्र, पुष्पादि सर्वत्र मिलते हैं। उनमें भी तोय (जल) को भगवान ने सबसे पीछे कहा है। पत्र, पुष्प और फल का भी अभाव हो सकता है; परन्तु जल का अभाव किसी के पास नहीं रहता। वह सबों को जीवित रखने वाला बिना मूल्य तथा बिना परिश्रम से प्राप्त हो जाता है।

याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताः स्यु एकान्तगतबुद्धिभिः ।
ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृहणाति वै स्वयम् ।।

अर्थात् अनन्य बुद्धि वाले भक्तों के द्वारा जो-जो क्रियायें भगवान को अर्पण की जाती हैं उनको परम पुरुष स्वयं सिर पर धारण करते हैं। इसलिए प्रेमी भक्त ग्राह्य किसी भी वस्तु को परमात्मा के लिए समर्पण करता है तो वे परमात्मा उसे प्रेमपूर्वक ग्रहण करते हैं।

शरीर निर्वाहणार्थ जो लौकिक कर्म किये जाते हैं, शरीर धारण के लिए जो भोजन किया जाता है एवं होम, दान, तप आदि जो वैदिक कर्म किये

जाते हैं उन सबों को भगवान के लिए समर्पण कर देना चाहिए; क्योंकि समस्त लौकिक तथा वैदिक कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता और आराध्य वे ही हैं। वे ही सबके नियामक एवं स्वामी भी हैं। भक्त सदा ऐसा अनुभव करता रहे कि भगवान के अधीन रहना ही जीवों का स्वरूप है।

भगवान के चरणों में समर्पण किये बिना कर्मों की सफलता नहीं मिलती है। अत एव वेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवत-२.४.१७ में कहा है कि तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मन्त्रवेत्ता के तप, दान आदि कर्म भगवान् के चरणों में समर्पण किये बिना सफल नहीं होते हैं। इसी तरह भागवत- ११.२.३६ में व्यास जी का वचन है कि मन, वचन, शरीर और बुद्धि आदि से जो भी कर्म करे उसे नारायण के चरणों में समर्पण कर दे।

जो मानव अपने समस्त कर्मों को भगवान के लिए समर्पण कर देता है, वह भगवत्प्राप्ति के विरोधी पूर्वार्जित समस्त शुभाशुभ फलों का भागी नहीं बनता है। यहाँ शुभ का अर्थ है अनुकूल और अशुभ का अर्थ है प्रतिकूल। पूर्वजन्म में या इस जन्म में भगवन्निमित्त कर्मसमर्पण से पूर्व जो भी उत्तम या अधम कर्म किये गये हों, उनका फल बन्धनकारक होते हैं। उत्तम कर्मों का फल स्वर्ग, स्त्री, धन, पुत्र आदि लौकिक सुख रूप है। अधम कर्मों का फल नरक या अधम योनि की प्राप्ति है, जो दु:खरूप है। शुभ और अशुभ, इन दोनों प्रकार के फल भगवदर्शन के विरोधी हैं। शुभ फल स्त्री, पुत्र, धन आदि में आसक्ति उत्पन्न कर बन्धनकारक होते हैं, और अशुभ फल नरक या अधम योनियों में भोगने के लिए मिलतें हैं। शुभ फल सोने की बेड़ी है और अशुभ फल लोहे की बेड़ी। जैसे-दोनों प्रकार की बेड़ियाँ कष्टकारक होती हैं, वैसे ही भगवदर्शन से वञ्चित रखने के कारण दोनों प्रकार के फल भी बन्धनकारक ही होते हैं।

इसीलिए भगवान् ने कहा है कि लौकिक-वैदिक कर्मों को मुझे समर्पण कर देने पर शुभाशुभ फलों से तुम मुक्त हो जाओगे।

जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरों के रूप में रहते हैं और जो जाति, आकार, स्वभाव तथा ज्ञान के तारतम्य से अत्यन्त श्रेष्ठ एवं निकृष्ट रूप में विद्यमान हैं वे सभी प्रकार के प्राणी भगवान् के लिए समान हैं, ऊँची जाति में उत्पन्न होने से, उत्तम स्वभाव से, शरीर की अधिक सुन्दरता से और अधिक ज्ञान से भगवान का कोई प्रिय नहीं होता है। इसी तरह नीच जाति में उत्पन्न होने से दूषित स्वभाव आदि से भगवान का कोई अप्रिय भी नहीं होता है। जो भगवान श्रीकृष्ण को अत्यन्त प्रेम से भजते हैं अर्थात् उनकी शरणागति करते हैं वे उनके प्रिय होते हैं और भगवान भी उन्हें ही भजते हैं। जाति आदि से श्रेष्ठ हो या निकृष्ट, भगवान उन्हें ही अपना समझते हैं। जैसे अग्नि अपने से दूर रहने वाले प्राणियों के शीत का निवारण नहीं करता; किन्तु निकट वालों का करता है। वैसे ही भगवान भी अपने शरणागत भक्तों पर ही कृपा करते हैं। जो उनकी शरण में नहीं आते या उनका भजन नहीं करते हैं, वे भगवान के प्रिय नहीं होते हैं। इसीलिए भागवत ९.४ में भगवान ने कहा है कि जो भक्त स्त्री, पुत्र, धन, घर, प्राण तथा स्वर्ग आदि को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ गये हैं, मैं उन्हें नहीं छोड़ सकता। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से सदाचारी पति को वश में कर लेती है वैसे ही मेरे साथ अपने हृदय को प्रेम-बन्धन में रखने वाले समदर्शी साधु भक्ति के द्वारा मुझे वश में कर लेते हैं। साधु मेरे हृदय हैं और साधुओं का हृदय मैं हूँ। जो प्रेमी भक्त मुझे छोड़कर दूसरे को नहीं जानता है, तो मैं भी उसे छोड़कर दूसरे को नहीं जानता हूँ।

सीता विवाह का गुप्त रहस्य बताया राजा जनक ने

एक दिन जब मैं एकान्त में बैठा हुआ था, मेरे पास महर्षि नारदजी अपनी महती नाम की वीणा बजाते और सर्वव्यापक श्रीहरिका गुण गाते हुए आये। मेरे पूजा-सत्कारादि कर चुकने पर वे सुखपूर्वक बैठकर प्रसन्नतापूर्वक मुझसे बोले—हे राजन्! अपने कल्याण का कारणरूप यह परम गुप्त वचन सुनो—परमात्मा हृषिकेश भक्तों पर कृपा, देवताओं की कार्य-सिद्धि और रावण का वध करने के लिए माया-मानवरूप से अवतीर्ण होकर राम नाम से विख्यात हुए हैं। वे परमेश्वर अपने चार अंशों से दशरथ के पुत्र होकर अयोध्या में रहते हैं और इधर योगमाया ने तुम्हारे यहाँ सीता के रूप से जन्म लिया है। अत: तुम प्रयत्न पूर्वक इस सीता का पाणिग्रहण रधुनाथ जी के साथ ही करना और किसी से नहीं; क्योंकि यह पहले से ही परमात्मा राम की ही भार्या है, ऐसा कहकर देवर्षि नारदजी आकाश-मार्ग से चले गये। तब से इस सीता को मैं विष्णुभगवान् की भार्या लक्ष्मी ही समझता हूँ। फिर यह सोचते हुए कि शुभलक्षणा जानकी जी को मैं किस प्रकार रधुनाथ जी को दूँ, मैंने एक युक्ति विचारी। पूर्वकाल में श्रीमहोदवजी ने त्रिपुरासूर को भस्म करने के अनन्तर यह धनुष मेरे दादा के यहाँ धरोहर के रूप में रख दिया था। मैंने यह सोचकर कि सीता के पाणिग्रहण के लिये सबके गर्वनाशक इस धनुष को ही पण बनाना चाहिये और वैसा ही किया। हे मुनिश्रेष्ठ। आपकी कृपा से यहाँ कमलनयन रामजी धनुष देखने आ गये हैं, इससे मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया। हे राम! आज मेरा जन्म सफल हो गया जो मैं सूर्य के समान देदीप्यमान और सीता के साथ एक आसन पर विराजमान आप को देख रहा हूँ।

यत्पादपङ्कजपरागसुरागयोगि
वृन्दैर्जितं भवमयं जितकालचक्रैः ।
यन्नामकीर्तनपरा जितदुःखशोका
देवास्तमेव शरणं सततं प्रपद्ये ।।

नाम रूप विभाजन का वर्णन

श्रुति समष्टि सृष्टि का वर्णन करने के उपरान्त व्यष्टि सृष्टि का वर्णन करती हुई यह कहती है कि ***'सेपं देवतैक्षतहन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'*** अर्थात् सच्छब्द वाच्च जिस तत्त्व ने सङ्कल्पपूर्वक तेज, जल और पृथिवी की सृष्टि की है, समष्टि सृष्टि करने वाला वह तत्त्व एक देवता है। वह तत्त्व सामान्य देवता नहीं, किन्तु परा अर्थात् श्रेष्ठ देवता है क्योंकि ''परस्यां देवतायाम्'' कहकर श्रुति आगे उसे पर देवता बतलायी है। देवता कहने से सच्छब्दवाच्य वह तत्त्व सगुण ब्रह्म सिद्ध होता है। उस परदेवता ने व्यष्टिसृष्टि करने के लिये यह सङ्कल्प किया कि मैं अब तक निर्मित इन समष्टि तत्त्वों में इस जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूप व्याकरण करुँ। यद्यपि इस श्रुति में ***'तिस्त्रो देवताः'*** कहकर तेज, जल और पृथ्वी इन तीन तत्त्वों का ही उल्लेख है ऐसा मानना चाहिये तथापि अन्यान्य श्रुतियों में वर्णित महतत्त्व इत्यादि तत्त्वों के प्रदर्शनार्थ भी यह उल्लेख है । अत एव उन तत्त्वों को भी यहाँ समझना चाहिये। ब्रह्माण्डों में अनन्त

भोगस्थान, भोगोपकरण एवं भोग्य पदार्थों की जो सृष्टि होती है तथा चौरासी लाख योनियों में विविध भोक्ता जीवों की जो सृष्टि होती है, यह सब व्यष्टि सृष्टि कहलाती है। जो सृष्टि ब्रह्माण्ड निर्माण के पूर्व होती है वह समष्टि सृष्टि कहलाती है। इस व्यष्टि सृष्टि को ही नामरूप व्याकरण कहते हैं; क्योंकि इसमें विविध रूपों से पदार्थों की सृष्टि होती है तथा उनके अलग-अलग नाम व्यवहृत होते हैं। व्यष्टि सृष्टि करने के पूर्व परमात्मा ने यह सङ्कल्प क्यों किया कि इन समष्टि तत्त्वों में इन जीवात्माओं के द्वारा हम प्रविष्ट होकर नामरूपव्याकरण करेंगे? यह विचारणीय विषय है। क्या परमात्मा जीवों के द्वारा इनमें प्रविष्ट हुये बिना नमारूपव्याकरण नहीं कर सकते? उनको इस प्रकार प्रवेश करने की क्या आवश्यकता थी? लोक में पिता पुत्र का नाम रखते हैं, यह नाम व्याकरण है। क्या पिता पुत्र के अन्दर प्रविष्ट होकर नामकरण करता है? नहीं। जिस प्रकार पिता बाहर रहकर नामकरण करता है, क्या उसी प्रकार परमात्मा नहीं कर सकते? लोक में कुम्भकार मृतिका को घटरूप देता है यह रूपव्याकरण है। क्या कुम्भकार मृत्तिका के अन्दर प्रविष्ट होकर ही उसको घटरूप में परिणत करता है? नहीं। जिस प्रकार कुम्भकार बाहर रहकर मृतिका को घटरूप दे देता है, क्या उसी प्रकार परमात्मा बाहर रहकर इन पदार्थों की सृष्टि नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में उनको जीवात्मा के द्वारा इन समष्टितत्त्वों में प्रविष्ट होकर नामरूपव्याकरण करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि परमात्मा सब कुछ कर सकते हैं; परन्तु उपर्युक्त प्रकार से परमात्मा ने जो सङ्कल्प किया है उसका तात्पर्य यह है कि जीवों को इन रूपों को अर्थात् शरीरों को प्राप्त कर कर्मफल भोगना चाहिये, इसलिये उनको इन तत्वों में प्रविष्ट होना अनिवार्य है। जीवात्मा एवं ये रूप अर्थात् शरीर परमात्मा का आश्रय लेकर ही रह सकते हैं, उनको छोड़ने पर इनको मिटना होगा। ऐसी स्थिति है, अत एव परमात्मा को यह सङ्कल्प करना पड़ता है कि मैं जीवों के द्वारा इनमें प्रवेश कर नामरूपव्याकरण करुँ। ऐसा करने पर ही जीव एवं जीवों के द्वारा धृत होने वाले ये रूप अर्थात् शरीर अस्तित्व पा सकते हैं अन्यथा नहीं, अत एव परमात्मा अन्तर्यामी के रूप में जीवों के अन्दर उपस्थित होकर जीवों के द्वारा इन रूपों को धारण करते हैं, तथा इन रूपों को बतलाने वाले शब्दों के द्वारा अभिहित होते हैं। परमात्मा की यह इच्छा है कि मैं अन्दर रहकर जीवों के द्वारा इन रूपों का धारण करुँ तभी इनका अस्तित्त्व हो सकता है तथा इनके वाचक शब्दों के द्वारा मैं अभिहित हो जाऊँ, इसलिये परमात्मा को जीवों का अन्तर्यामी बनकर जीवों के द्वारा इनमें प्रवेश करना पड़ता है। प्रत्येक जड़पदार्थ के अन्दर रहकर जीव उसको धारण करता हैं। जीव के अन्दर अन्तर्यामी के रूप में रहकर परमात्मा जीव एवं उनके द्वारा धृत रूपों को भी धारण करते हैं तभी उनको सत्ता प्राप्त होती है। उन रूपों को अर्थात् शरीरों को बतलाने वाले शब्द उन रूपों को बतलाते हुये उनके अन्दर रहने वाले जीव एवं उनके अन्दर रहने वाले अन्तर्यामी के वाचक बनते हैं। इस प्रकार सभी शब्दों से अन्तर्यामी ही अभिहित है।

ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक अवश्य धारण करें

भक्तिपथ के पथिकों की ऐसी आस्था है कि नेर्हेतुकीकृपा से अनुगृहित जीवों के समुद्धारार्थ ईश्वर ही गुरुरूप में अवतीर्ण हो स्वेच्छा स्वरूप अन्तः प्रेरणा से मानव वपुधारी जीवों को आत्मसमर्पित (ईश्वर शरणागत) करवाकर उनमें परमार्थ पथ के पाथेयभूत पञ्चसंस्कारों के आधान द्वारा उपासना के लिए अधिकृत करते हैं। जिसे दीक्षा भी कहते हैं। इसके द्वारा साधक भावदेह से आराध्य का वरण कर उसकी दिव्य लीला के विभिन्न अङ्गों से परिचित होता है कैङ्कर्य (उपास्य सेवा) की योग्यता के बाह्य तथा आभ्यन्तर दो रूप होते हैं। जैसे-गन्दे पात्र का स्वच्छ एवं पवित्र गंगाजल तथा स्वच्छ एवं पवित्र पात्र का अस्वच्छ गंगाजल इन दोनों ही परिस्थितियों में जल अग्राह्य होता है। जल की ग्राह्यता के लिए पात्र एवं जल दोनों की स्वच्छता परमापेक्षित है, वैसे ही आराध्य की आराधना के अधिकार की प्राप्ति हेतु बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों ही दृष्टि से संस्कृत होना नितान्त अपेक्षित है—

'तापःपुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागस्तु पञ्चमः' के अनुसार बाहुमूलों में शङ्ख-चक्राङ्कण, ऊर्ध्वपूण्ड्र-तिलक धारण करना, भागवत् (उपास्य) भागवत परक नामकरण, अष्टाक्षर-द्वय चरम मन्त्रों का उपदेश तथा ईश्वर के चरणों में सर्वतोभावेन समर्पण ये पञ्च संस्कार बाह्य हैं और सांसारिक विषयों से वैराग्य एवम् उपास्य के चरणों में अनुरागादि आभ्यन्तर संस्कार कहे जाते हैं इन दोनों में किसी के अभाव में आराध्य की आराधना योग्यता साधक में नहीं आ सकती। अर्थात् वह परमात्मा का प्रिय प्रात्र तभी बन पायेगा जब वह बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों दृष्टि से संस्कृत होगा। अत एव वैष्णवाचार्य शरणागत भक्तों को उक्त पञ्च संस्कारों से संस्कृत कर भक्ति के अधिकार द्वारा भक्त और भगवान के बीच पुरुषकार (मध्यस्थ) बनते हैं।

यद्यपि पञ्च-संस्कारों के परिगणना-क्रम में प्रथम स्थानापन्न शङ्खचक्र का मुद्राङ्कण है तथापि मैं उस पर कोई विचार न कर द्वितीय स्थानापन्न संस्कार उर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण को ही अपने लेख का प्रधान प्रतिपाद्य विषय बना रहा हूँ।

ऊपर बताया गया है कि मानव-नीवन की सफलता परमानन्द की प्रप्ति में है और उसकी उपलब्धि में उपासना परमावश्यक हैं, क्योंकि उपासना के बिना ईश्वर की प्रियता प्राप्त नहीं होती। उपासना का अर्थ है- भक्ति। जिसका नारद संहिता के अनुसार ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक धारण एक प्रधाम अङ्ग है— ***'अर्चनाङ्गं ब्रवीत्यया तथा श्रुतिः'।***

पद्मपुराण में भी—

आद्यं तु वैष्णवं प्रोक्तं शङ्खचक्राङ्कणं हरेः ।
धारणं चोर्ध्वपुण्ड्राणां तन्मन्त्राणां परिग्रहः ।।

इत्यादि के द्वारा परिगणित सोलह प्रकार की भक्ति में भी ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक धारण का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अथर्ववेद के अनुसार लक्ष्मीपति श्रीनरायण के दोनों पदारविन्दों के समान मध्य में छिद्र छोड़कर जो ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक लगाता है वह परमात्मा का प्रिय, पुण्यवान और मुक्ति का भाजन बनता है—

'हरेः पादाकृतिमात्मनो हितं मध्ये छिद्रमूर्ध्व-पुण्ड्रं यो धारयति स पुण्यवान् भवति स मुक्ति भागभवति'।।

यह आध्यात्कि दृष्टि से जितना आवश्यक है व्यवहारिक और वैज्ञानिक दृष्टि से भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। उपास्यदेव श्रीलक्ष्मीनाथ भगवान्

श्रीनारायण के दोनों चरणारविन्दों की आकृति तथा उनके बीच में दोनों ओर से रिक्त स्थान छोड़कर श्री रेखा को भृकुटि तथा ललाट के मध्य भाग में धारण करते हैं और उसी के सटे निम्म भाग में भृकुटि के नीचे नासिका पर एक, आसन देते हैं; किन्तु पहले आसन तत्पश्चात् उपास्य की पादाकृति और अन्त में श्री रेखा धारण करते हैं।

पूर्व सिंहासनं कुर्युः ततः पार्श्वं द्वयं पुनः ।
ततः पश्चाच्च तन्मध्ये लिखेयुः सुन्दरीं श्रियम् ।।

(वाल्मीकि संहिता अ० ४)

ललाट और नासिका प्रदेश में लगा उक्त चिह्न भी ऊर्ध्वपुण्ड्र शब्द से अभिहित होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से दम्पति श्रीलक्ष्मी नारायण का प्रतीक है; क्योंकि स्वयं भगवत्पाद का वचन है—

पुण्ड्ररूपेण मां वृद्धि रेखां रूपेण वै श्रियम् ।
संधारयन्ति ये माले बाहुबक्षस्थस्लादिषु ।।

(वृ०ब्र०सं० ३-१०)

अर्थात् पुण्ड्र के रूप में मुझे तथा श्रीरेखा के रूप में लक्ष्मी को ललाट, बाहु, वक्षस्थलादि पर जो धारण करते हैं वे मुझे अत्यन्तप्रिय हैं। इसके धारण किये बिना यज्ञ, दान, तप, होम, स्वाध्याय, तर्पण इत्यादि नित्य, नैमित्तिक, काम्य, लौकिक तथा वैदिक समस्त धार्मिक एवम् आध्यात्मिक क्रिया कलाप निष्फल हो जाते हैं। यहाँ तक की ऊर्ध्वपुण्ड्र से रहित शरीर श्मशान की तरह अस्पृश्य एवम् अदर्शनीय है।

यज्ञोदानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम् ।
व्यर्थं भवति तत्सर्वमूर्ध्वपुण्ड्रं बिना कृतम् ।।
यच्छरीरं मनुष्याणमूर्ध्वपुण्ड्रं बिना कृतम् ।
तन्मुखं नैव पश्यामि श्मशान सदृशं हि तत् ।।

(स्कन्द पु० वै० खण्ड)

मस्तक सहित शरीर के बाहर अङ्गों में इसके धारण करने का तात्पर्य सम्पूर्ण शरीर को उपास्य के चिह्नों से प्रकाशित कर उसे उनका भोग्य बनाना (कैङ्कर्य की स्वरूपयोग्यता प्रदान करना) है। इससे उपास्य को प्रसन्नता प्राप्त होती है।

हमारे ज्ञान तन्तुओं का विचारक केन्द्र भृकुटि और ललाट का मध्य भाग है, किसी गहन विषय पर अधिक विचार करने से इस केन्द्र में वेदना की अनुभूति होती है, यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान से भी विदित होता है। हमारा यह विचारक केन्द्र मस्तिक जितना शुद्ध एवं स्वस्थ रहेगा हमारा तात्त्विक परिशीलन उतना ही वास्तविक एवं महत्त्वपूर्ण होगा। अतः मन्त्रद्रष्टा–महर्षि मनीषियों ने उसी ज्ञान तन्तु के केन्द्र स्थल में शीतलता प्रदान करने हेतु ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण का वैदिक आचरण स्वयं किया तथा हमें भी धारण करने का निर्देश दिया है, जिससे उसकी शक्ति अक्षुण्ण बनी रहे। यह हमारी ऊर्ध्व गति का सङ्केत चिह्न भी है; जिसका सतत धारण हमें अपने क्रिया-कलापों से ऊपर उठने का सङ्केतक है।

ऊर्ध्वगत्यां तु यस्येच्छा तस्योर्ध्वपुण्ड्रमुच्यते ।
ऊर्ध्वगत्वा तु देवत्वं स प्राप्नोति न संशयः ।।

(वालूल स्मृति)

व्यावहारिक दृष्टि से यह आध्यात्मिक रहस्यों का प्रतिपादक सङ्केत चिह्न है। जैसे मानव समाज की अन्य सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इकाइयों के उनके सैद्धान्तिक भावों के प्रकाशक झण्डा आदि कोई विशेष चिह्न होते हैं, वैसे ही मनुष्य समाज की आध्यात्मिक इकाइयों श्रीमन्नारायण, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि की भक्ति परम्परा के सैद्धान्तिक भावों का प्रकाश चिह्न ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक है।

तिलक धारण के लिए मलयगिरि चन्दन, गोपी चन्दन, वेलमूल, भस्म तथा श्वेत, श्याम या

पीत मृत्तिका शास्त्र विहित है; किन्तु तीर्थों की पवित्र मृत्तिका को स्वच्छ करके जो चन्दन तैयार किया जाता है वह सात्त्विक तथा पूर्वोक्त शैत्य आदि अनेक वैज्ञानिक लाभों से परिपूर्ण होता है।

युद्ध मृत्तिका में सर्वविध सङ्क्रामक कीटाणुओं के विनाश की अद्भुत शक्ति है; इसे सभी भौतिक विज्ञानवादी स्वीकार करते हैं। तीर्थों की मृत्तिका में पवित्रता भी अवश्य रहती है। अत एव अपने मस्तिष्क को पवित्र करने के लिए भी श्वेत मृत्तिका का तिलक लगाते हैं। इसीलिए ***'ऊर्ध्वपुण्ड्र' 'मृदाधार्यम्'*** यह कहकर श्वेतमृत्तिका की प्राथमिकता दी गयी है और श्रीरेखा के लिए नीबू रस तथा सुहागा समन्वित हरिद्राचूर्ण ये दोनों ही उपर्युक्त दृष्टि से परम उपादेय हैं। आयुर्विज्ञान के अनुसार हल्दी में संयोजन तथा त्वचा शोधन की अद्वितीय क्षमता है। अत: त्वचा को शुद्ध तथा मस्तिष्क के स्नायुओं को संयोजित करने के लिये मध्य में हल्दीचूर्ण धारण करने का विधान है।

यों तो चारों वर्णों के लिए अलग-अलग द्रव्यों से विभिन्न प्रकार के तिलक धारण का विधान शास्त्रों में मिलता है। जैसे ब्राह्मणों को श्वेत श्याम या पीत मृत्तिका से ऊर्ध्वपुण्ड्र, क्षत्रिय को मलयगिरि चन्दन, गोपी चन्दन से अर्धचन्द्राकार, वैश्य को वेल-मूल से वर्तुलाकार और शूद्र को भस्म से त्रिपुण्ड्र-तिलक धारण का विधान मिलता है। किन्तु—

सर्वजातिषु यो मर्त्यो विष्णुभक्तो भवेन्मुने ।
तस्योर्ध्वपुण्ड्रकरणे अधिकारो बुधैस्मृतः ।।

(नारदीय)

ऊर्ध्वपुण्ड्र ऋजुः सौम्यो ललाटे यस्य दृश्यते।
चाण्डालोऽपि विशुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः।।

(ब्राह्माण्डे)

इन प्रमाणों के आधार पर किसी वर्ण का व्यक्ति यदि विष्णु भक्त है तो इसे ऊर्ध्वपुण्ड्र ही धारण करना चाहिए। यह किसी के लिए निषिद्ध नहीं है, अत: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के लोग ईश्वर सायुज्य प्राप्ति के लिए प्रणव मन्त्र (***ॐ***) से भगवान् विष्णु का स्मरण करते हुए—

ॐ उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन सत वाहुना ।
आरूह्य मम गात्राणि सर्व पाप हरो भव ।।

इस मन्त्र से ललाटादि द्वादश स्थानों पर प्रतिदिन ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक धारण करें।

जो लोग कुछ नास्तिकों के हँसने पर तिलक लगाना छोड़ देते हैं या हँसने के भय से तिलक लगाते ही नहीं और लज्जा का अनुभव करते हैं, उनसे राष्ट्र या समाज की रक्षा की सम्भावना भी नहीं की जा सकती; क्योंकि किसी के हँसने या लज्जा वश जब वे वेद विहित स्वधर्म की रक्षा नहीं कर सकते तो उनसे राष्ट्र, समाज और परिवार की रक्षा की उम्मीद कैसे की जा सकती है? लज्जा या भय तो वेद निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान में होना चाहिये, किन्तु उन वेद निषिद्ध जघन्य कर्मों को करने में ऐसे लोग भय और लज्जा का अनुभव ही नहीं करते हैं।

अत: राष्ट्र, समाज, परिवार या अपना हित चाहने वाले लोगों का कर्तव्य होता है कि वे जिस तरह अन्य शास्त्र विहित जीवनोपयोगी वस्तुओं के सङ्ग्रह हेतु विभिन्न कर्मों का सम्पादन करते हैं; उसी तरह अपनी आध्यात्मिक सम्पदा को बढ़ाते हुए भगवान् श्रीनारायण के सायुज्य प्राप्ति के लिए ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक धारण भी भय, लज्जा तथा सङ्कोच से ऊपर उठकर अवश्य करें।

हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ

प्रकृति प्रदत्त नेत्र रहने के बावजूद भी शास्त्ररूपी नेत्र के अभाव में व्यक्ति अन्धा माना गया है। अभिप्राय यह है कि जन्म से मरण पर्यन्त हम जितने भी धार्मिक व आध्यात्मिक कृत्यों का सम्पादन करते हैं, उनका मुख्य आधार हमारे शास्त्र ही होते हैं।

आज के इस भौतिक बाद प्रधान युग में उन धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन तो दूर रहा, बहुतेरे लोग उनका नाम तक नहीं जानते। यद्यपि हिन्दू शास्त्र बहुत विस्तीर्ण है। धार्मिक ग्रन्थों का बहुत बड़ा भाग विदेशी विधर्मी आक्रमणकारियों द्वारा नष्टकर दिया गया। उनसे बचे-खुचे ग्रन्थों का भी बड़ा भाग प्रकृति के प्रकोप से, लोगों की असावधानी से दीमक तथा कीड़ा के खाने से नष्ट हो गया। अब जो कुछ बचा है, उसमें भी सहस्त्रों ग्रन्थ लोगों के घरों में पड़े हैं। उनका पता औरों को नहीं है।

यह सब कुछ होने पर भी यदि प्रकाशित तथा उपलब्ध ग्रन्थों की सूची मात्र ही दी जाय तो एक बड़ा ग्रन्थ उस सूची से ही बन जायेगा। इसलिये सङ्क्षिप्त रूप में मुख्य ग्रन्थों की चर्या यहाँ की जा रही है।

हिन्दू धर्म के आधार ग्रन्थों के मुख्य भाग ये हैं—(१) वेद, (२) वेदाङ्ग, (३) उपवेद, (४) पुराणेतिहास, (५) स्मृति, (६) दर्शन, (७) निबन्ध, (८) आगम।

वेद के छ: भाग हैं—(१) मन्त्र संहिता, (२) ब्राह्मण ग्रन्थ, (३) आरण्यक, (४) सूत्रग्रन्थ, (५) प्रातिशाख्य और (६) अनुक्रमणी।

वेद चार हैं– (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, (४) अथर्ववेद। किन्तु ये चार वेद के विभाजन हैं। मूलत: वेद एक ही है। वेदों का यह विभाजन करने के कारण ही महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास कहे जाते हैं। यज्ञों में चार मुख्य ऋत्विज् होते हैं–होता, अध्वर्यु, उद्गाता, और ब्रह्मा। ऋग्वेद के ऋत्विज् को होता, यजुर्वेद वाले को अध्वर्यु, सामवेद वाले को उद्गाता तथा अथर्ववेद के ऋत्विज् को ब्रह्मा कहते हैं। ये क्रमश: चारों दिशाओं में बैठते हैं। वेद का अपर नाम 'त्रयी' भी है—त्रयी का यह अर्थ है कि वेद पहले प्रधान तीन ही थे—

स्त्रियामृक्सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी ।

वेद अनादि है। उनका कोई निर्माता नहीं है, वे शाश्वत ईश्वरीय ज्ञान हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा के हृदय में उन्हें भगवान् ने प्रकट किया है। एक दूसरे से सुनकर ही वैदिक मन्त्रों का ज्ञान होता है, इसलिये वदमन्त्रों को 'श्रुति' कहते हैं।

मन्त्रों के छन्द, ऋषि, देवता तथा विनियोग निर्दिष्ट हैं। छन्द के द्वारा जाना जाता है कि उस मन्त्र का कैसे उच्चारण करना चाहिये, उनकी पूरी व्याख्या निरुक्त या व्याकरण से नहीं होती। समाधि में जिसने जिस मन्त्र का अर्थदर्शन किया वह उस मन्त्र का ऋषि काहा जाता है, ऋषि मन्त्रद्रष्ट्रा होते हैं।

शाखाएँ ऋषियों ने अपने शिष्यों को अपनी सुविधा अनुसार मन्त्र पढ़ाया। किसी ने एक छन्द से सब मन्त्र एक ही साथ पढ़ाया। दूसरे ने एक देवता के सम्पूर्ण मन्त्र साथ पढ़ाया। तीसरे ने मन्त्रों को उनके विषय अथवा उपयोगानुसार रखा। इस प्रकार सम्पादन क्रम से एक वेद की अनेक शाखाएँ हो गयी।।

वेद की २१ शाखाएँ कही जाती हैं उनमें से शाकलशाखा युद्ध रूप में प्राप्त है। यजुर्वेद के दो प्रकार के पाठ हैं एक को शुक्ल यजुर्वेद तथा दूसरे को कृष्ण यजुर्वेद कहते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की १६ तथा कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाएँ थीं। इनमें से शुक्ल यजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिनी शाखाएँ प्राप्त हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, कापिष्ठल और श्वेताश्वर ये पाँच शाखाएँ मिलती हैं। सामवेद क एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख है; परन्तु उनमें केवल तीन उपलब्ध हैं—(१) कौथुमी, (२) जैमिनीया, (३) राणायणीया। उनमें भी कौथुमी शाखा तथा जैमिनीया ही पूर्ण रूप में प्राप्त हैं। राणायणीया का भी कुछ अंश उपलब्ध होता है। अथर्ववेद की शाखाओं में केवल सम्प्रति पैप्पलादी तथा शौनकीय शाखाएँ शुद्ध रूप में मिलती हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ—वेद मन्त्रों का यज्ञ में कैसे उपयोग हो, यह ज्ञान इनमें बतलाया गया है। इस समय जो ब्राह्मण ग्रन्थ मिलते हैं, उनका विवरण निम्न है। ऋग्वेद का (१) ऐतरेय-ब्राह्मण और (२) शाङ्खायन-ब्राह्मण अथवा कौषीतकी-ब्राह्मण।

कृष्णयजुर्वेद का तैत्तिरीय-ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय-संहिता का मध्यवर्त्ती ब्राह्मण। शुक्लयजुर्वेद का शतपथ–ब्राह्मण यह भी दो प्रकार का है। (१) काण्वशाखा–१७ काण्डों का है। (२) माध्यन्दिनी शाखा जो १४ काण्डों का माना जाता है। समावेद का (१) काण्व पञ्चविंश ब्राह्मण, (२) षड्विंश ब्राह्मण, (३) सामविधान ब्राह्मण, (४) आर्षेय ब्राह्मण, (५) मन्त्र ब्राह्मण, (६) दैवताध्याय ब्राह्मण, (७) वंश ब्राह्मण, (८) संहितोपनिषद् ब्राह्मण, (९) जैमिनीय ब्राह्मण, और (१०) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण।

अथर्व का–गोपथ ब्राह्मण

आरण्यक और उपनिषद्

ब्राह्मण-ग्रन्थों के जो भाग वन में पढ़ने योग्य हैं, उनका नाम आरण्यक है। इस समय प्राप्त उपनिषद् लगभग २७५ हैं। तेरह उपनिषदें मानी जाती हैं—(१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) मुण्डक, (५) माण्डूक्य, (६) प्रश्न, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तरीय, (९) छान्दोग्य, (१०) वृहदारण्य, (११) श्वेताश्वर, (१२) कौषीतिकी और (१३) नृसिंह तापिनी। इनमें से ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेद की मूल संहिता में ही है।

वेदों में सूत्र भाग तीन प्रकार के होते हैं—(१) श्रौत, (२) गृह्यसूत्र और (३) धर्मसूत्र। श्रौतसूत्र में मैत्र संहिता के कर्मकाण्ड को स्पष्ट किया है इस समय निम्नलिखित श्रौत उपलब्ध हैं।

ऋग्वेद के–(१) आश्वलायन और (२) शाङ्खायन श्रौत सूत्र हैं।

कृष्णयजुर्वेद के (१) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, (२) हिरण्यकेशीय (सत्याषाढ़) श्रौतसूत्र, (३) बौधायन, (४) भारद्वाज, (५) वैखानस, (६) बाधूल, (७) मानव और (८) वाराह सूत्र भी हैं।

सामवेद के मशकसूत्र, लाह्यायन सूत्र, द्राह्यायण-सूत्र और खादिर आदि श्रौत सूत्र हैं।

गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र

जैसे श्रौत सूत्र चारों वेदों के हैं, वैसे ही गृह्यसूत्र तथा धर्म सूत्र भी चारों के हैं। धर्म सूत्रों में धर्माचार का वर्णन होता है और गृह्य सूत्रों में कुलाचार का वर्णन।

ऋग्वेद के (१) आश्वलायन-गृह्यसूत्र तथा (२) शाङ्खायन-गृह्यसूत्र हैं तथा इसका वशिष्ठ धर्मसूत्र भी है, जिसकी टिकाएँ उपलब्ध हैं।

कृष्णयजुर्वेद (१) मानव-गृह्यसूत्र, (२) काठक -गृह्यसूत्र (३) आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र (४) वौधायन-गृह्यसूत्र, (५) वैखानस-गृह्यसूत्र, (६) हिरण्यकेशी -गृह्यसूत्र हैं तथा इन्हीं नामों से धर्मससूत्र भी प्राप्त होते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद के आपस्तम्ब गृह्य सूत्र (इस पर

कर्क, जयराम, गदाधर आदि सात संस्कृत टीकाएँ हैं, जो वर्तमान में उपलब्ध हैं) तथा कात्यायन एवं विष्णुधर्मसूत्र भी प्राप्त हैं।

सामवेद के (१) जैमिनीय गृह्यसूत्र, (२) गोभिल गृह्यसूत्र, (३) खादिर गृह्यसूत्र, (४) द्राह्यायन गृह्यसूत्र तथा गौतम धर्मसूत्र, (इस पर मस्करिभाष्य तथा मिताक्षरावृत्ति प्राप्त है) एवं छान्दोग्य परिशिष्ट भी मिलते हैं। अथर्ववेद के कौशिक, बाराह एवं वैखानस गृह्यसूत्र प्राप्त होते हैं।

प्रातिशाख्य

प्रातिशाख्य एक प्रकार का वैदिक-व्याकरण है जो चारों वेदों में उपलब्ध होते हैं, कात्यायन शूल्वसूत्र यजुर्वेद के शूल्वसूत्र में प्रधान है। इनमें ज्यामिति शास्त्र का विस्तार है। भौतिक विज्ञान के वर्णन करने वाला इन शूल्व सूत्रों के लोप से वैदिक, भौतिक विज्ञान लुप्त हो गया।

अनुक्रमणी

वेदों की रक्षा, वेदार्थ का विवेचन इन ग्रन्थों का प्रयोजन है। ऋग्वेद की (१) आर्षानुक्रमणी— इसमें मन्त्र क्रम से ऋषियों के नाम भी हैं। (२) छान्दोऽनुक्रमणी, (३) देवानुक्रमणी, (४) अनुवाक् अनुक्रमणी, (५) सर्वाऽनुक्रमणी, (६) वृहद् दैवत, (७) ऋग्विज्ञान, (८) वह्वृच् परिशिष्ट (९) शांख्यायन परिशिष्ट, (१०) आश्वलायन परिशिष्ट (११) ऋक् प्रातिशाख्य भी प्राप्त हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की (१) आत्रेयानुक्रमणी, (२) चारायणीयानुक्रमणी और (३) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य प्राप्त होते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद के—(१) प्रातिशाख्य सूत्र, (२) कात्यायनानुक्रमणी।

वेदाङ्ग

वेद के छः अङ्ग माने जाते हैं, इन अङ्गों के बिना वैदिक ज्ञान अपूर्ण रहता है। (१) वेदरूप महापुरुष का नेत्र है ज्योतिष। (२) दोनों कर्ण हैं निरुक्त, (३) नासिका है शिक्षा, (४) मुखावयव है व्याकरण, (५) हाथ कल्प शास्त्र एवं, (६) पैर है– छन्द शास्त्र।

शिक्षा

शिक्षा में मन्त्र के स्वर, अक्षर, मात्रा तथा उच्चारण का विवेचन होता है। इस समय प्रायः निम्नलिखित शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

(१) ऋग्वेद की पाणिनीय शिक्षा।

(२) कृष्णयजुर्वेद की व्यास शिक्षा।

(३) शुक्ल यजुर्वेद के याज्ञवल्क्य आदि २५ शिक्षा ग्रन्थ हैं।

(४) समावेद की गौतमी, लोमभी तथा नारदीय शिक्षा।

(५) अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा।

व्याकरण

व्याकरण का काम भाषा का नियम स्थिर करना है। शाकटायन व्याकरण के सूत्र तथा आज का पाणिनीय व्याकरण यजुर्वेद से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। पूर्व में शाकटायनादि के भी बहुत से व्याकरण ग्रन्थ थे। जिनके सूत्र पाणिनीय में हैं। पाणिनीय व्याकरण पर कात्यायन ऋषि का वार्तिक तथा महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य है। इसके पश्चात् इस पर व्याख्या, टीकाएँ तथा विवेचनात्मक ग्रन्थों की बहुत बड़ी संख्या है। एतदतिरिक्त, सारस्वत व्याकरण, कामधेनु, हेमचन्द्र, प्राकृत, प्रकाश, कलाप, मुग्ध बोध इत्यादि व्याकरण शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, इन पर भी भाष्य, टीका एवं विवेचना प्राप्त होते हैं।

निरुक्त

जैसे पाणिनीय व्याकरण के प्रचार, से अन्य प्राचीन व्याकरण लुप्त हो गये, वैसे ही प्रायः

निरुक्त ग्रन्थ भी लुप्त हैं। निरुक्त वेदों की व्याख्या पद्धति बतलाते हैं, उन्हें वेदों का विश्व कोश कहना चाहिये। वर्तमान में केवल यास्काचार्य विरचित निरुक्त शास्त्र उपलब्ध है। इस पर अनेक भाष्य टीकादि ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार कश्यप शाकपूणि इत्यादि के निरुक्त ग्रन्थों का भी पता चलता है।

छन्द

इस समय वैदिक छन्दों के निर्देशक मुख्यत: इतने ग्रन्थ उपलब्ध हैं—गार्ग्यप्रोक्त उपनिदानसूत्र (सामवेदीय) पिङ्गलनागप्रोक्त छन्द सूत्र (छन्दों विचित्रि) वेङ्कटमाधवकृत-छन्दोऽनुक्रमणी और जयदेवकृत छन्द सूत्र। लौकिक छन्दों पर भी छन्द शास्त्र (हलायुधवृत्ति) 'छन्दोमञ्जरी, वृत्तरत्नाकर, श्रुतबोध, ज्ञानाश्रयी, छन्दोविंशति आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

कल्प और ज्योतिष

कल्प सूत्रों में यज्ञों की विधि का वर्णन किया गया है। ज्योतिष का मुख्य प्रयोजन संस्कार तथा यज्ञों के लिए मुहूर्त बतलाना और यज्ञस्थली मण्डपादि का माप करना है। व्याकरण के समान ज्योतिष शास्त्र भी व्यापक है। इस समय आचार्य 'लगध' रचित वेदाङ्ग ज्योतिष के अतिरिक्त सामान्य ज्योतिष के ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

नारद, पराशर, वशिष्ठ आदि ऋषियों के बड़े-बड़े ग्रन्थों के अतिरिक्त वाराहमिहिर, आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, कमलाकर भट्ट, एवं भास्कराचार्य के ज्योतिष ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार वेदोपकारक वेदाङ्ग ज्योतिष आदि छ: शास्त्र हैं।

स्मृति इतिहास पाञ्चरात्र एवं पुराण।

वेद तथा वेदाङ्गों के अधार पर स्मृति, इतिहास, पाञ्चरात्र तथा पुराण ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। जिसमें मन्वादि १०८ स्मृति ग्रन्थ हैं जो, धर्म शास्त्र कहे जाते हैं। वाल्मीकिकृत शतकोटि (सौ करोड़) श्लोकात्मक रामायण और वेदव्यासकृत एक लक्ष्य (एक लाख) श्लोकों से परिपूरित महाभारत ये दो महान् ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं, जैसे भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर (गीता का उपदेश किया था, वैसे ही भगवान नारायण ने नारद जी को निमित्त बनाकर १०८ पाञ्चरात्र संहिता का उपदेश किया है। जिनमें ईश्वर संहिता, अर्हिबुध्न्य संहिता, बृहद् ब्रह्मसंहिता, विष्वक्सेन संहिता आदि जगत् प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। ईश्वर उपासना तथा मंदिर आदि के सम्बन्ध में सारी व्यवस्थायें उन संहिता ग्रन्थों में मिलती हैं। मानव कल्याण की दृष्टि को रखते हुए वेद व्यास आदि त्रिकालज्ञों ने अठ्ठारह-पुराणों एवम् अठ्ठारह उपपुराणों का भी निर्माण किया है। इस तरह अन्य अनके ग्रन्थ भी देखा जा रहा है। जिसमें मानव जीवन के उत्कर्ष को दिखलाया गया है।

●

गीतार्थ सङ्ग्रह

श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण वेदों का सार है। यह भगवान कृष्ण की दिव्य वाणी है। इतिहास पुराणादि में सर्वत्र इसकी महिमा गायी गई है, इसलिए यह सर्वशास्त्रमयी कही गई है। इसमें विश्व रचयिता परमात्मा से सृजित प्रत्येक वस्तु के यथार्थ स्वरूप का स्थूल तथा सूक्ष्म रूप से चित्रण किया गया है। भगवान के अव्यक्त रूप से विश्वरूप तक की दिव्य झाँकी गीता में मिलती है। यह भगवान के अनन्त एवं कल्याणमय गुणों तथा दिव्य विभूतियों का प्रत्यक्ष दर्शन कराती है।

संसार के विभिन्न कष्टों से अतिपीड़ित मानव को आनन्दमय ब्रह्मसागर में मिला देने की सामर्थ्य एक मात्र गीता में है।

स्वामी रामानुजाचार्य जी ने विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रधान ग्रन्थ गीता पर भाष्य किया है, उससे पूर्व श्रीस्वामी यामुनाचार्य जी ने गीतार्थ सङ्ग्रह, सिद्धित्रय ग्रन्थ और आलवन्दार का निर्माण किया। इनमें पूर्व दो विशिष्टाद्वैत तत्त्व प्रधान ग्रन्थ हैं और आलवन्दार रहस्य ग्रन्थ है। श्रीस्वामी रामानुजाचार्य जी ने इन्हीं दोनों ग्रन्थों का आधार मानकर विशिष्टाद्वैत परक भाष्य लिखा है।

श्री यामुनाचार्य स्वामी द्वारा निर्मित गीतार्थ संग्रह में ३२ श्लोक हैं। जिनमें प्रथम श्लोक से सम्पूर्ण गीता का भाव दर्शाया है। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ श्लोकों से क्रमशः प्रथम द्वितीय एवं तृतीय षट्क का भाव प्रकट किया है। छः अध्याय को एक षट्क कहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण गीता तीन षट्क में विभक्त है। तदनन्तर प्रत्येक अध्याय का सार एक-एक श्लोक से प्रतिपादन किया है। शेष दस श्लोकों से ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि में पारस्परिक सम्बन्ध एवं उनका फलादि दर्शाये गये हैं।

गीतार्थ सङ्ग्रह का प्रथम श्लोक है—

स्वधर्मज्ञान वैराग्य साध्य भक्तैक गोचरः ।
नारायणः परंब्रह्म गीता शास्त्रे समीरितः ।।

गीता शास्त्र में भक्तों के कल्याणार्थ अपने वर्णाश्रमानुकूल धर्म भगवत् शेषत्व रूप ज्ञान, वैराग्य तथा साध्य भक्ति के द्वारा प्राप्त होने वाले परब्रह्म नारायण का अच्छी तरह से प्रतिपादन किया गया है।

तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिस्सर्वतोमुखैः ।
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः परः ।।
(महाभारत)

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ।।
(नरसिंह पु० अ० १८।३४)

समस्त शास्त्रों के मन्थन करने से यही निश्चित होता है कि एक नारायण ही परं ध्येय तथा भक्तों के लिए प्राप्य हैं।

स्वधर्म—महर्षि जैमिनी ने ***'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः'*** इस पूर्वमीमांसा सूत्र से वेद की प्रेरणा स्वरूप अर्थ को धर्म कहा है। इसका दो भाग हो जाता है। कर्तव्य कर्म रूप धर्म जैसे–***'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'*** अर्थात् प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिए। सत्यं वद–सत्य बोलना चाहिए आदि। वेद का निषेधात्मक प्रेरणा रूप धर्म जैसे–***'मा सुरां पीबेत्'*** अर्थात् मदीरा नहीं पीना चाहिए। ***'असत्यं न वदेत्'*** इत्यादि।

महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा बतायी है ***'यतोभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः'*** अर्थात् जिस प्रकार के कर्मों को करने से लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक कल्याण रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही धर्म है, यह धर्म कर्म स्वरूप ही है और उपासक की निष्ठा के अनुसार शुभाशुभ फलप्रद होता है। अपने अपने वर्णाश्रमानुकूल कर्मों का अनुष्ठान करने वाला मुमुक्षु पुरुष संसिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। ***'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिलभते नरः'*** यह स्वयं भगवान की आज्ञा है।

जिस ज्ञान के द्वारा पुरुष यह समझ लेता है कि हम भगवान के लिए ही हैं किसी दूसरे के लिए नहीं। उसे ही यहाँ ज्ञान शब्द से कहा गया है। अर्थात् जिस ज्ञान से भगवान में भक्ति बने वही ज्ञान सही है। मन की उस स्थिति को वैराग्य कहते हैं, जब परमात्मा में प्रगाढ़ प्रेम हो जाता है और परमात्मा से भिन्न वस्तुओं से विरक्ति हो जाती है—
'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि'।
(परिव्राजको पनिषद्)।

पतञ्जलि ने योग सूत्र में वैराग्य का लक्षण बतलाया है कि ***'दृष्टानुश्रविकविषय वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'*** अर्थात् इस लोक और स्वर्ग की विषयों से चित्त को तृष्णा रहित हो जाना वैराग्य है।

सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य के बिना कर्मयोग की सिद्धि सम्भव नहीं है। कर्मयोगी अनासक्त होकर सारे कर्मों को भगवत्प्रीति के लिए करता है। ज्ञान और वैराग्य ये दोनों आत्मा के साक्षात्कार कराने में साधन हैं। तत्पश्चात् भक्तियोग की प्राप्ति होती है। इसलिए यामुनाचार्य स्वामी ने ***'साध्यभक्तैकगोचरः'*** नारायण को कहा है। सिद्धित्रय नामक ग्रन्थ के आत्मसिद्धि प्रकरण में श्रीयामुनाचार्य स्वामी ने कहा है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों से शुद्ध अन्तः करण वाले पुरुष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भक्तियोग के द्वारा ही परमात्मा का प्राप्त करते हैं—

उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिक भक्ति योगलभ्यः।

भक्ति का स्वरूप बतलाते हुए श्रीवेदान्तदेशिक ने कहा है कि ***'महनीय विषये प्रीतिर्भक्तिः'*** अर्थात् अपने पूजनीय को उद्देश्य बनाकर मन में उत्पन्न होने वाले स्नेह को ही भक्ति कहते हैं। मुमुक्षु अपने पूज्य परमात्मा में प्रेम करते हैं और उनका वह प्रेम ही भक्ति कहलाती है। लिङ्गपुराण के उत्तर खण्ड में यह जो कहा गया है— ***'प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते'*** अर्थात् प्रेमपूर्वक सतत स्मरण करते रहने को ही भक्ति कहते हैं। उसका भी तात्पर्य अपने पूज्य विषय को ही सदा प्रेमपूर्वक स्मरण करते रहने से ही है। भक्तिसूत्र में महर्षि नारद भी भक्ति के स्वरूप का निर्णय करते हुये कहते हैं— ***'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'*** अर्थात् इस परमात्मा में परम प्रेम करने को ही भक्ति कहते हैं। श्रीमद्भागवत आदि भक्ति प्रधान ग्रन्थों में भी श्रीभगवान के चरणों में आत्यन्तिक प्रेम को ही भक्ति कहा है।

यत्पादाम्भोरुहध्यानविध्वस्ता शेषकल्मषः ।
वस्तुतामुपयातोऽहं यामुनेयं नमामि तम् ।।

(क्रमशः...)

गृहारम्भ मुहूर्त्त

(१) फाल्गुन कृष्ण द्वितीया सोमवार १७-२-२०१४ को दिन में १२:४३ से २:५६ तक पुनः ५:१५ से ७:२८ तक

(२) फाल्गुन शुक्ल एकादशी बुधवार १२-३-२०१४ को सन्ध्या में ३:४० से ६ बजे तक।

गृहप्रवेश मुहूर्त्त

(१) माघ शुक्ल षष्ठी बुधवार ५-२-२०१४ को दिन में ७ से ८:३० तक

(२) फाल्गुन कृष्ण द्वादशी बुधवार २६-२-२०१४ को दिन में १०:१४ से १२:९ तक पुनः ४:४२ से ६:५५ तक।

(३) फाल्गुन शुक्ल षष्ठी शुक्रवार ७-३-२०१४ को रात्रि में ६:३६ से ८:३३ तक।

(४) फाल्गुन शुक्ल सप्तमी शनिवार ८-३-२०१४ को दिन में ९:३५ से ११:३० तक। (भद्रापरिहारपूर्वक) पुनः ४:३ से ६:१६ तक।

द्विरागमन मुहूर्त्त

पूर्व से पश्चिम ईशान से नैऋत्य वायव्य से अग्निकोण के लिए—

(१) फाल्गुन शुक्ल द्वितीया सोमवार ३-३-२०१४ को प्रातः ६:४९ से ८:१६ तक

(२) फाल्गुन शुक्ल एकादशी बुधवार १२-३-२०१४ को दिन में ३:१८ से ३:४८ तक

धर्म और सम्प्रदाय

धाराणद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।।

म०भा० (कर्णपर्व) ६९/५८

'धृञ् धारणे' धातु से धर्म-शब्द की निष्पत्ति होती है। 'धृञ्' धातु का अर्थ है धारण करना। इसी धातु से 'धर्म' शब्द बना है। अत: धर्म का अर्थ है धारण करने वाला ***'धार्यते इति धर्मः'*** तथा ***'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'।*** जिससे इस लोक में उन्नति हो तथा परलोक में कल्याण हो वह धर्म कहलाता है। इसका अर्थ हुआ कि लोक तथा पालोक दोनों को जो धारण करे वह धर्म है।

धर्म से ही मनुष्य महान् है

अग्नि का धर्म है उष्णता। उष्णता ही अग्नि के अग्नित्व को धारण करती है, अग्नि में उष्णता न रहे तो वह भस्म होगी, अग्नि नहीं रहेगी। इसी प्रकार मुनष्य में धर्म न हो तो द्विपाद होकर भी वह पशु या पिशाच भले हो मनुष्य नहीं कहला सकता भगवान व्यास ने कहा है कि– ***'नहि मानुषात् परतरं हि किञ्चित्'।***

मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं है विश्वकवि ने भी इसी स्वर में स्वर मिलाया है— ***'सर्वोपरि मानुष मानुषोपरि नाहि '।***

परन्तु मनुष्य सर्वोपरि क्यों हैं? तड़क भड़क वाले वस्त्र पहनने के कारण? ऊँचे महलों में रहने के कारण? मोटर या हवाई जहाज में घूमने के कारण? अथवा शीध्र से शीध्र अधिक से अधिक प्राणियों के संहार के नवीन-नवीन उपायों को खोज निकालने के कारण?

देखिये, मनुष्य की बुद्धिमत्ता की डींग मत हाँकिये। मनुष्य की बुद्धि ने जितना अनर्थ किया है और कर सकती है उतना कोई पशु-पक्षी नहीं कर सका, न कर सकता है। योजना पूर्वक विश्वसंहार के शस्त्र पशु नहीं बना सकता। पशु अपने आहार के लिए हिंसा भले करे, पाल-पालकर पशु-पक्षियों को पेट में पहुँचाने की नृशंसता वह नहीं कर सकता अच्छा, इसे भी छोड़िये। जंगलों में केवल कौपीन लगाने वाली, पेड़ों पर रहने वाली जो जातियाँ हैं, उन्हें आप मुनष्य मानते हैं या कुछ और? हाथी, कुत्ते, घोड़े, कबूतर चींटियाँ अनेक बार इतनी सूझबुझ का काम करते देखे गये हैं कि अनेक मनुष्यों में भी उतनी समझदारी नहीं होती। इसीलिये बुद्धि के कारण मनुष्य श्रेष्ठ है, यह बात ठीक नहीं है और न श्रीव्यास अथवा विश्वकवि ने ही मनुष्य होने के कारण पक्षपात पूर्वक मनुष्य को श्रेष्ठता का पदक दिया है।

मनुष्य श्रेष्ठ है धर्म के कारण। धर्माधर्म- कर्त्तव्या कर्त्तव्य का विचार, मरण के पश्चात् भी जीव की सत्ता की मान्यता तथा ईश्वारानुभुति की क्षमता केवल मनुष्य में ही है। इसीलिये मनुष्य श्रेष्ठ है।

प्रकृति ने ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यकस्रोत तथा अध: स्रोत ये तीन प्रकार के प्राणी बनाये हैं। बृक्ष ऊर्ध्वस्रोत हैं। उनका रस मूल से ऊपर जाता है। इसका अर्थ वे विकासोन्मुख हैं। पशु-पक्षी प्रभृति तिर्यक् स्रोत हैं। उनका शरीर भूमि के समानान्तर प्राय: रहता है। उनका आहार मुख से तिर्यक् टेढ़ा चलता है। मुनष्य अवाक् (अध:) स्रोत प्राणी है। उसका आहार ऊपर से नीचे जाता है, इसका ताप्तर्य है कि प्रकृति के प्रवाह में विकास की अन्तिम सीमा पर मनुष्य पहुँच गया। प्रकृति का चक्र जहाँ तक उसे उठा सकता था, उठा चुका। अब वह स्वत:-प्रयत्न से प्रकृति-प्रवाह से पार न हो जाय। जन्म-मरण से मुक्त न हो जाय तो अवाक् गति के द्वार पर पहुँच गया है यही जीवन इस प्रकृति-प्रवाह से मुक्त

होने का द्वार है, इसलिये यह सर्वश्रेष्ठ है।

धर्म सहज सिद्ध है

मनुष्य के इस जीवन में सहज-सिद्ध सहज-स्वभाव धर्म है। अधर्म तो मुनष्य की विकृति है। अधर्म पर निष्ठा रखकर उसका आचरण कोई कर नहीं सकता। हिंसा की बात छोड़िये; क्योंकि हिंसा का व्रत लेंगे तो फाँसी का तख्ता दो-चार दिन में ही दीखने लगेगा। चोरी भी कारागार में बन्द करा देगी। लेकिन असत्य के विषय में भी सोचकर देखिये। आप सत्य नहीं बोलते और केवल झूठ बोलने का व्रत लें तो कितने समय तक उसका निर्वाह कर सकेंगे? अपना नाम, अपने पिता का नाम, स्थान व्यवसाय तथा प्रत्येक जानकारी आपको मिथ्या बतलानी पड़े तो कितने दिन आप कारागार से बाहर रह सकेंगे? समाज में कितने समय तक आपका निर्वाह सम्भव होगा? असत्य का निर्वाह ही सत्य के सहारे होता है, धर्म की आड़ लेकर ही अधर्म जी पाता है। वह स्वयं जीवित रहने में भी समर्थ नहीं है। उसका अवलम्बन करने वाला डूबेगा, नष्ट होगा।

धर्म मनुष्य का सहज स्वभाव है। सत्य बोलने के लिये अहिंसा-अस्तेय का पालन करने के लिये, परोपकारादि धर्म के लिये कोई योजना, कोई बुद्धिपूर्वक चिन्तन नहीं करना पड़ता, यथार्थ का पालन करना होता है। धर्म का पालन शक्ति देता है, सत्तावान बनाता है। लोक-परलोक में उन्नत करता है जैसे स्वास्थ्य के नियमों का पालन शरीर के लिये है, वैसे ही संयम का पालन मन के लिये है।

धर्म की दासता से मुक्ति की बात आज के प्रगतिशील लोग बड़े गर्व से करते हैं, किन्तु इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है- मन इन्द्रियों की दासता की स्वीकृति। यह स्वीकृति विनाश की ओर ले जाती है। संयम की दासता से मुक्ति लेकर मनमाना आहार-बिहार करने वाला रोगों तथा मृत्यु का शिकार बनता है।

इसी प्रकार धर्म की दासता से मुक्ति का अर्थ मन-इन्द्रिय की दासता है और इसका फल है रोग, शोक तथा अशान्ति। स्वतन्त्र वह है, जो मन-इन्द्रिय का स्वामी है जो धर्म को अपना मार्ग दर्शक बनाकर चलता है, क्योंकि जीवन एवं मनुष्यत्व का धारण कर्ता धर्म उसका आधार है–स्वस्थ जीवन एवं शान्त मन उसके स्वत्व हैं।

धर्म एक ही है

हँसी आती है ''विश्वधर्म परिषद्'' या'' विश्वधर्म सम्मेलन'' की बात सुनकर। जैसे मनुष्य एक प्राणी नहीं, पशु या पक्षी के समान वर्ग है और उसमें बहुत से प्राणी हैं कि उनके बहुत से धर्म होंगे **'विश्वधर्म का'** क्या अर्थ? आप मनुष्य, पशु पक्षी पदार्थादि सबके प्रतिनिधि एकत्र करके उनके धर्मों की विवेचना करना चाहते हैं? एसा नहीं है तो मनुष्य तो एक प्राणी है। एक प्राणी के दो-चार या दस-बीस धर्म कैसे हो सकते हैं?

मानवधर्म—मनुष्य का धर्म और मनुष्य शाश्वत, सनातन है। अत: मनुष्य का धर्म भी शाश्वत, सनातन है। वह समातन धर्म ही एकमात्र धर्म है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि जो धर्म के दस लक्षण मनु ने गिनाये हैं, इनका अपवाद मिला है। कहीं आपको? कोई धर्माचार्य झूठ, चोरी, हत्या को धर्म कहता है? ऐसा तो नहीं है। तब एक ही उपदेश देने वाले अनके लोगों को आप-पृथक्-पृथक् धर्मों का प्रवर्तक क्यों कहते हैं? देखिये-मनुष्य धर्म के अनिवार्य रूप से ये लक्षण हैं—

(१) उसमें सब मनुष्यों को उनकी वर्तमान स्थिति में ही उनकी रुचि शक्ति-क्षमता के अनुसार मुनष्य जीवन के परम लक्ष्य जन्म-मरण से मुक्त होने का साधन देने की क्षमता होनी चाहिये।

(२) जो जहाँ है, वह वहीं से अपने इस लोक

में उन्नति तथा परलोक-कल्याण का साधन प्राप्त कर सके, ऐसी उसमें शक्ति हो। सनातन धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसमें मनुष्य की रुचि स्थिति तथा अधिकार-भेद को स्वीकार करके साधन-भेद आचार भेद की व्यवस्था है। मनुष्य सनातन प्राणी है, अत: उसका धर्म भी सनातन ही है।

सम्प्रदाय

'सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदाय:' गुरु परम्परा से जो सम्यक् रूप से चला आ रहा है और गुरु जिसमें शिष्ट को सम्यक् रूप से मन्त्र, आराध्य, आराधना पद्धति तथा आचार-पद्धति प्रदान करता है, उसका नाम सम्प्रदाय है। सम्प्रदाय का अर्थ सीधे शब्दों में है–धर्म का पथ विशेष। एक सम्प्रदाय साधक के अनुयायी को एक पथ प्रदान करता है जिस पर चलकर वह धर्म के द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँच सके। एक ग्रन्थ, एक उपासना, एक आचार-पद्धति जहाँ भी प्रचलित है, जहाँ भी कहा जाता है–कल्याण का यही मार्ग है, वह सम्प्रदाय है। 'सम्प्रदाय' शब्द न सङ्कीर्णतायुक्त है और न हेय है। यह तो विवेक हीन लोगों की एक लम्बी परम्परा ने इस शब्द के प्रति लोक में अरुचि उत्पन्न कर दी है। ''इस साधन एवं मार्ग के अतिरिक्त मनुष्य का कल्याण सम्भव ही नहीं। दूसरे सब मार्ग भ्रान्त, हेय तथा त्याज्य हैं।'' यह मिथ्या भ्रम अहङ्कार एवम् अविवेक के कारण पुष्ट हुआ और उसने इस शब्द के प्रति उपेक्षा उत्पन्न कर दी। साम्प्रदायिक का अर्थ है संकीर्ण मनोवृति का व्यक्ति माना जाने लगा।

''हमारा मार्ग सर्वथा ठीक है। हमारा मन्त्र, ग्रन्थ, गुरु, उपासना, आचार त्रुटिरहित है। हमारे लिये यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है'' यह निष्ठा आवश्यक है, किन्तु इस निष्ठा के साथ दूसरे मार्गों, मन्त्रों ग्रन्थों, गुरुओं, उपासना एवम् आचार-पद्धतियों से द्वेष अथवा घृणा नहीं होनी चाहिये। उनके अनुयायी भ्रान्त ही हैं, यह धारणा अज्ञानमूलक है। वे मार्ग उनके लिए ठीक होंगे, यह उदारता धार्मिक पुरुषों में अनिवार्य रूप से अपेक्षित है।

साम्प्रदायिक का ठीक अर्थ है–साधन पथारूठ जो धर्म के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उसे कोई न कोई पथ तो अपनाना ही होगा। लक्ष्य तक जाना है तो रास्ता पकड़कर चलना होगा। यह दूसरी बात है कि आपका रास्ता वहाँ से प्रारम्भ-होगा, जहाँ आप खड़े हैं, आपके अधिकार के अनुसार आपका साधन सम्प्रदाय होना चाहिये, लेकिन सम्प्रदाय के बिना तो साधन सम्भव नहीं है। मार्ग के बिना तो लक्ष्यतक गति नहीं होती। धर्म तो सार्वभौम वस्तु है। वह तो भूमि है, जिस पर नाना पथ हैं। सब पथ भूमि पर ही हैं। अत: धर्म का मूल रूप सब सम्प्रदायों में स्वीकृत है, लेकिन पथों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। चलने वाले के अधिकार के अनुसार हैं ये पथ।

शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, बौद्ध, जैन सिख आदि ही सम्प्रदाय नहीं है। आज जिन्हें, भ्रमवश धर्म का नाम दिया जाता है, वे यहूदी, ईसाई, इस्लाम, पारसी आदि भी सम्प्रदाय ही हैं, क्योंकि ये भी लक्ष्य तक पहुँचाने वाले पथ हैं। इनमें एक साधन, एक आचार-पद्धति प्रदान की जाती है। इनको सम्प्रदाय स्वीकार करके आप विश्व-सम्प्रदाय-सम्मेलन बुलायें या विश्व-सम्प्रदाय-परिषद् गठन करें, इसमें किसी को भला क्या आपत्ति हो सकती है?

सम्प्रदाय पथ है, भूमि नहीं। अत: उनका इतिहास है। वे बनते बदलते और मिटते रहते हैं। महापुरुष नूतन पथ का निर्माण सदा से करते रहे हैं और करते रहेंगे। लेकिन भूमि-धर्म तो भूमि है उसके बदलने या नष्ट होने का अर्थ है प्रलय। धारण करने वाले तत्त्व का नाम धर्म है वह नहीं रहेगा तो मनुष्यता मर जायगी। वह तो नित्य है, सत्य हैं इसीलिये **'धर्म सनातन'** है।

सूझ उत्पन्न करने वाली कथा

किसी निर्जन वन में फल-मूल का आहार करने वाले एक जितेन्द्रिय मुनि रहा करते थे, वे महान् तपस्वी थे। प्रतिदिन शास्त्रों का स्वाध्याय, जप-तप किया करते और भगवत-ध्यान में परायण रहते थे। उनका अन्त:करण अत्यन्त निर्मल था और उनमें सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। तपोवन में एक वृक्ष के नीचे वे आसन लगाकर भगवान का ध्यान समाधि में निरत रहते थे।

महर्षि के सद्भाव को देखकर जंगली हिंसक प्राणी भी वहाँ आया-जाया करते एवं मृग, पशु-पक्षी किसी को किसी का भय नहीं रहता। मुनि की तपस्या का ऐसा प्रभाव था कि हिंसक प्राणी भी उस क्षेत्र में अहिंसक बन जाते थे। वे सभी शिष्य की भाँति महर्षि के पास आते, बैठते और जब इच्छा हो चले भी जाते। इतना ही नहीं वे जानवर ऋषि का कुशल क्षेम भी पूछते। महर्षि के सद्भाव से उन जीवों का उनसे शुद्ध स्नेह हो गया था।

उन्हीं जानवरों में एक कुत्ता भी था। वह उनका भक्त बन गया था और जानवर तो आते, बैठते तथा वापस चले जाते, किन्तु कुत्ता वहीं पड़ा रहता। उसने भी मुनिवृत्ति अपना ली, वह उपवास करने से अतिकृश हो गया था। वह भी महर्षि के समान ही फल मूल का आहार करता। महर्षि के समीप ही रहने वाला वह कुत्ता उन महर्षि में अनुरक्त हो गया, स्नेह के बन्धन में बन्ध गया।

कुछ समय के बाद भयङ्कर आकृति वाला मांस भोजी एक चीता कहीं से उस आश्रम के समीप आ पहुँचा और कुत्ते को देखकर वह लाल-लाल आँखे करके उसकी ओर बढ़ा। कुत्ता डर के मारे महर्षि के समीप जा पहुँचा और अपनी रक्षा की प्रार्थना करने लगा।

महर्षि सभी प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न थे। सब के मनोभाव को जानने वाले और समस्त प्राणियों की बोली समझने वाले थे। उन्होंने कुत्ते को भयभीत देखकर कहा वत्स! डरो मत। मैं तुम्हें इससे भी बड़ा और अधिक बलशाली चीता बना देता हूँ, तब तुम्हें देखकर यह डर कर भाग जायगा। हुआ भी ऐसा ही। कुत्ता अब विशाल चीता बन गया। पहले वाले चीता ने दूसरा चीता देखा तो उसका वैरभाव दूर हो गया। वह अन्यत्र चला गया। दूसरा चीता निर्भय हो उस बन में रहने लगा।

कुछ दिनों के बाद एक महाभयङ्कर बाघ वहाँ आया और उसने चीता बने हुए उस कुत्ते को खाना चाहा। इस पर वह चीता पुन: महर्षि की शरण में गया और दयालु ऋषि ने उसे चीते से बहुत बड़ा बाघ बना दिया। पहले वाला बाघ उसे भी बाघ समझकर चुप-चाप अन्यत्र चला गया। इधर वह कुत्ता बाघ बन कर मांसाहारी होकर बन में निर्भय हो विचरने लगा। विचित्रता देखिये जो कुत्ता पहले फल-मूल ही खाता था आज बाघ बनकर मांसाहारी हो गया। एक दिन एक बहुत बड़ा काले रंग का हाथी वहाँ आया, जहाँ वह बाघ बैठा था। बाघ को देखकर वह भयङ्कर गर्जना करने लगा। डर कर बाघ पुन: महर्षि की शरण में गया। तब उन मुनिश्रेष्ट ने उस बाघ को भी बहुत विशाल हाथी बना दिया। उसे देखकर पहले वाला हाथी डरकर भाग गया।

कुछ दिनों के बाद उस प्रदेश में एक बहुत बड़ा सिंह गर्जना करते हुए आया। हाथी उसे देखकर डर गया और प्राणों की रक्षा की प्रार्थना करता हुआ महर्षि के पास गया। ऋषि ने उसे भी बहुत बड़ा दूसरा सिंह बना दिया। उसे देख पहला जंगली सिंह डरकर भाग गया। वह सिंह बना कुत्ता उसी महावन में आश्रम के समीप ही रहने लगा। उसके भयंकर रूप को देखकर जंगल के दूसरे पशु

डर गये और वे अब उस आश्रम के समीप डर के मारे नहीं आते थे। कुछ दिनों बाद दैवयोग से एक दिन एक महाभयङ्कर शरभ वहाँ आया। उसके आठ पैर थे और नेत्र उपर की ओर उठे थे। वह रक्त पीने वाला जानवर वन्य-जन्तुओं को त्रास पहुँचाने वाला था। उस सिंह को मारने की दृष्टि से वह आश्रम के समीप पहुँचा। महान् शरभ को अपनी ओर आता देख सिंह भय से अत्यन्त व्याकुल हो गया और थर-थर काँपने लगा, वह शीध्र ही उन मुनि की शरण में गया। महर्षि तो साधु प्रकृति के थे ही, उन्होंने शरण में आये उस सिंह को महाशरभ बना दिया। जंगली शरभ उस मुनि निर्मित शरभ को देखकर डर गया और वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

इस प्रकार मुनि की दयालुता, सज्जनता और शरणागत वत्सलता से वह सामान्य कुत्ता शरभ होकर आश्रम के समीप ही रहने लगा। वह वन्य जन्तुओं को मारकर उनके माँस से अपनी भूख मिटाता था। जंगली जीव जो पहले तपोवन में निर्भय और शान्तभाव से रहते थे वे उस शरभ से भयभीत हो वहाँ से पलायन कर गये। वन्य जीवों के वहाँ से अन्यत्र चले जाने पर शरभ की भूख तो मिटती नहीं थी। वह तो मांस भोगी था। उसे मांस ही चाहिये। वह कब-तक भूखा रहता। अब तो उसे वे मुनि ही अपने आहार के रूप में दिखायी देने लगे। वाह रे स्वभाव। कृतध्नता की पराकाष्ठा! जिन मुनि के प्रभाव से प्राणरक्षा के लिए वह कुत्ता अनेक योनियों में पहुँचकर निर्भय शरभ बना, वही आज उन्हीं दयालु सज्जन मुनि को अपना आहार बनाना चाह रहा है। उसने यह सोचकर कि इन मुनि के स्वभाव का क्या ठिकाना, ये किसी दूसरे शरभ में आये हुए को मुझसे भी बड़ा और महाभयङ्कर जीव बना सकते हैं, जो मुझे ही मार डालेगा। इसलिए जब तक ये ऐसा नहीं कर लेते अच्छा यही है कि मैं उससे पहले इन्हें ही अपना ग्रास बना लूँ। इनके बध हो जाने से तो मैं फिर निर्भय हो विचरण करुँगा। मुनि तो ज्ञान शक्ति से सम्पन्न थे ही, उन्होंने दुष्ट शरभ के मनोभाव को जान लिया वे उससे कहने लगे—अरे मूर्ख! तू पहले कुत्ता था फिर चीता बना, चीते से बाघ की योनि में आया; बाघ से मदोन्मत्त हाथी हुआ, हाथी से सिंह की योनि में आया और फिर शरभ का शरीर पा गया। यद्यपि तू नीच कुल में उत्पन्न हुआ था तो भी स्नेहवश मैं ने तेरा परित्याग नहीं किया। इसके विपरीत तुम्हारे मन में मेरे प्रति पापभाव उत्पन्न हुआ है तू मेरा ही वध करना चाहता है, अत: जा तू अपनी पूर्व योनि में ही आकार कुत्ता हो जा।

मुनि के इतना कहते ही वह दुष्टात्मा शरभ कुत्ते के रूप में परिणत होकर अत्यन्त दीन दशा को प्राप्त हो गया। ऋषि ने उसे अपने तपोवन से भी बाहर निकल दिया। यह नीति कथा बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा-राजन् ! सत्यपुरुष अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। वे चाहे जितनी भलाई करे, किन्तु दुष्टजन अपनी दुष्टता करने में भी चूकते नहीं हैं। अत: बहुत विचार कर राजा को चाहिये कि वह अपने अमात्य, सेवकों आदि का योग्यता पूर्वक चयन करे। सचाई शुद्धता, सरलता, साधुता, सदाचार, कुलीनता, जितेन्द्रियता आदि को देखकर जो जिस कार्य के योग्य हो, उसे उस कार्य में लगाना चाहिये। नीच जनों की संगति से दु:ख ही उठाना पड़ता है। कुलीन तथा सज्जन पुरुष यदि कभी राजाद्वारा तिरस्कृत भी हो जायें तो भी वे कभी राजा का अनिष्ट करने की बात सोच नहीं सकते। इसके विपरीत नीच तथा दुर्जन व्यक्ति साधु स्वभाव के राजा का आश्रय पाकर दुर्लभ ऐश्वर्यों का भोग करता है, किन्तु राजा के द्वारा एक बार भी निन्दित होने पर वह उसका शत्रु बन जाता है। (महाभारत, शान्तिपर्व ११६ से ११८)।

विधवा-विवाह निषेध

मुझे भ्रमणकाल में यत्र-तत्र यह प्रश्न सुनने को मिला कि विधवा-विवाह होना चाहिए या नहीं? यह सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। मैंने विचार किया कि ऐसा प्रश्न क्यों आ रहा है। प्रत्येक गाँव में अनेक विधवायें चिरकाल से रहती हैं। यदि विधवा-विवाह शास्त्र-सम्मत होता तो वे सब विवाह करके सधवा हो जातीं और शास्त्रकारों को विधवा-धर्म-निर्णय करने की आवश्यकता ही नहीं होती। साथ ही विधवा होकर मरने वाली नारियाँ भाग्यहीन मानी जाती हैं। वह भाग्यहीनता सबकी दूर हो जाती। विधवा के सम्बन्ध में शास्त्रकारों की सम्मतियाँ निम्नलिखित हैं। सर्वप्रथम उस मनु से आप विचार लें, जिनके वचन के विरुद्ध अन्य स्मृतियाँ अप्रमाणिक मानी गयी हैं तथा जिनके वचन मानव-कल्याण के लिए औषध के समान हैं—

'मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते'।

'मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत्तद्भेषजम्'।

मनु की सम्मति—

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्म हन्युः सनातनम् ।।

(मनु० ९.६४)

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाह विधायुक्तं विधवावेदनं पुनः ।।

(मनु० ९.६५)

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ।।

(मनु ९.६६)

(१) द्विजातियों का कर्तव्य है कि विधवा स्त्री को पुत्रोत्पत्ति हेतु न देवर के साथ लगावें और न किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह सम्बन्ध ही करें; क्योंकि विधवा नारी के अन्य पुरुष से संयोग होने पर सनातन धर्म नष्ट हो जाता है।

(२) विवाह सम्बन्धी किन्ही मन्त्रों में किसी भी शाखा में नियोग नहीं कहा गया है और न विवाह विधि में विधवा को पुनः दूसरे पुरुष के साथ विवाह करने को ही कहा गया है।

(३) राजा वेन अपने शासन काल में मनुष्यों में यह प्रचार कर दिया था कि कोई भी नारी किसी भी पुरुष से प्रेम कर सकती है। विधवा होने पर भी किसी भी पुरुष के साथ सम्बन्ध करके पुत्रोत्पत्ति कर सकती है। इस पशुवत् आचरण को विद्वान् द्विजातियों ने घोर निन्दा की है।

अब चलें महर्षि याज्ञवल्वय के कार्यालय में, वहाँ से क्या उत्तर मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि—

मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति ।
सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोभया सह ।।

(याज्ञ० ३.७५)

अर्थात् जो स्त्री पति के जीवनकाल में या पति क मर जाने पर पुरुषान्तर के पास नहीं जाती है, वही संसार में कीर्ति पाती है और मृत्यु के बाद पुण्य के प्रभाव से उमा के साथ सुखपूर्वक निवास करती है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में सम्पत्ति के अधिकारीवर्णन के प्रसंग में मिताक्षरा ने हारीत का वचन देते हुए अपना विचार व्यक्त किया है—

विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा ।
आयुषः क्षपनार्थन्तु दातव्यं जीवनं तदा ।।

(हारीत)

अर्थ यह है कि यौवनावस्था में यदि नारी विधवा हो जाय तो उसे जीवन निर्वाह के लिए

सम्पत्ति देनी चाहिए।

तदपि शङ्कितव्यभिचारायाः सकलधन-ग्रहणनिषेधपरम्। अस्मादेव वचनादनाङ्कितव्यभि चारायाः सकलधनग्रहणं गम्यते ।।

(मिताक्षरा)

जिस विधवा स्त्री को व्यभिचारिणी बनने की आशङ्का हो, उसे पति की सम्पत्ति से जीवन निर्वाह भर धन दे और जिसमें उसकी आशङ्का न हो उसे पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति देने सम्बन्धी विचार का उल्लेख मिताक्षरा में किया गया है।

विष्णु स्मृति में लिखा है कि ***'भर्तृ प्रेते ब्रह्मचर्यं तद् अन्वारोहणं वा'*** इसका भाव यह है कि पति के मर जाने पर पत्नी अखण्ड ब्रह्मचर्या धारण करे या पति के साथ चिता पर सती हो जाय।

कर्म विपाक संहिता की सम्मति—

स्वपतिध्नी च या नारी रण्डा भवति नान्यथा ।
तया नित्यं प्रपूज्या च तुलसी भक्तिभावतः ।।

जो स्त्री पूर्व जन्म में अपने पति को मार डालती है, वह दूसरे जन्म मे रण्डा (विधवा) होती है। उसके लिए उचित है कि वह नित्य भक्ति-भाव से तुलसी वृक्ष का पूजन करे।

उर्ज्जे माघे च वैशाखे प्रातःस्नानं समाचरेत् ।
एकादशी व्रतं नित्यं द्वादशाक्षरविद्यया ।।
जपं कृत्वा प्रयत्नेन पतिरूपाय विष्णवे ।
समर्पणं ततः कुर्यात्ततः पापं प्रणश्यति ।।

(७.२१)

विधवा नारी कार्तिक, माघ और वैशाख मास में प्रातः काल स्नान करे और द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करते हुए एकादशी व्रत का पालन करे। वह भगवान् विष्णु को अपना पति मानते हुए जीवन भर सदाचार का पालन करे। इससे उसका सम्पूर्ण पाप नाश हो जाता है और शबरी की तरह वह भगवान् विष्णु की सायुज्य मुक्ति प्राप्त करती है।

स्वामिनः प्रातिकूल्येन येषु जन्मसु गच्छति ।
तारुण्यं प्राप्य सा नारी विधवा भवति वैध्रुवम् ।।

(पराशर संहिता)

जो नारी पूर्व जन्मों में पति के प्रतिकूल आचरण करती है, वह युवावस्था में ही विधवा बन जाती है। मानसकार तुलसीदास ने लिखा है कि

पति प्रतिकूल जन्म जहँ जाई ।
विधवा होई पाई तरुणाई ।।

पराशर स्मृति—

मृते भर्तरि या नारि ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ।।

(४.३१)

पति के मरने पर जो स्त्री ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती हुई अपना जीवन व्यतीत करती है, वह मर कर ब्रह्मचारियों की भाँति स्वर्ग में जाती है। किसी ग्रन्थ के किसी मन्त्र या श्लोक का ऐसा अर्थ करना चाहिए, जिससे उस ग्रन्थ के आगे-पीछे के वचनों से विरोध न पड़े।

पराशर जी के ***'नष्टे मृते०'*** इस श्लोक का अर्थ ''पति के मर जाने पर दूसरा विवाह, सम्भोग या पुत्रोत्पत्ति के लिए पति बना ले'' ऐसा करने पर पारस्परिक वचनों में विरोध उत्पन्न होता है।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।

यह चतुर्थाध्याय का ३०वाँ श्लोक है। इसी अध्याय का १४वाँ श्लोक द्रष्टव्य है–

ऋतुस्नातां च या नारी भर्तारं नोपसर्पति ।
सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः ।।

जो स्त्री ऋतु स्नान के बाद अपने पति के पास नहीं जाती वह मरने के बाद नरक जाती है तथा अन्य जन्मों में बार-बार विधवा होती है। इस वचन से स्पष्ट है कि जो नारी पति के प्रतिकूल चलती है वही विधवा होती है। वहीं पर श्लोक संख्या ३१ में

कहा गया है कि ''पति के मरने पर जो नारी ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन-यापन करती है; वह स्वर्ग जाती है। इस प्रकार यदि पराशर जी बीच के ३०वाँ श्लोक द्वारा विधवा नारी को विवाह के लिए अनुमति देते हैं तो इसका अर्थ यही होगा कि विना पूर्वापर के विचार किये ही उन्हें लिखने की प्रवृत्ति थी। या यह कहा जा सकता है कि कामलिप्सा वालों को संहार करना, उनका उद्देश्य था; क्योंकि पूर्व पाप के कारण नारी जब बार-बार विधवा बनती है, तब तो जो विधवा के साथ विवाह करेगा, वह तो मर ही जायेगा। इस प्रकार वैसी पापिनी विधवा से विवाह करके कौन यमलोक देखना चाहेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि पराशर जी बड़े व्यावहारिक और सामयिक ज्ञान वाले थे। वे जानते थे कि कलियुग में अधिक विधवायें होगीं और विवाह न करने पर व्यभिचारिणी हो जायेंगी। अत एव उन्होंने विवाह का विधान किया है। यहाँ पर पराशर के उन वचनों पर भी ध्यान दें, जहाँ सातवें अध्याय में वे लिखते हैं—

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरः स्वयम् ।।

अर्थात् जो अपनी कन्या का विवाह बारहवें वर्ष तक नहीं कर देते हैं, उसके पिता स्वयं उस कन्या का रज प्रतिमास पीते हैं। साथ ही उस कन्या के माता-पिता और बड़ा भाई ये तीनों नरकगामी होते हैं। क्या पराशर जी को यह ध्यान में नहीं आया था कि कलियुग में विवाह निमित पुत्र बेचने का बाजार गर्म हो जायेगा, जिसके कारणवश लोग २०, २४, २५ आदि वर्षो मे कन्या का विवाह करेंगे। इसके लिए भी उन्हें व्यावहारिक बन कर लिख देना चाहिए था कि जब अनुकूल समय समक्षे तभी कन्या का विवाह करें। परन्तु यहाँ मनु आदि शास्त्रकारों के अनुकूल ही वे सत्यता को प्रकट किये। अतः विधवा-विवाह प्रसंग में भी यही समझना चाहिए कि पराशर जी कभी भी मनु, याज्ञवल्क्य आदि धर्मशास्त्रकारों तथा वैदिक विवाह विधि के विरुद्ध विधवा विवाह निर्णय नहीं दे सकते।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।

पुनः पराशर जी के इस श्लोक पर विचार करें। जिसका पति नष्ट हो जाय, (अर्थात् विदेशादि जाने से जिसका कहीं पता न लगे) मर जाय, संन्यासी हो जाय, नपुंसक और पतित हो जाय, तो इन पाँच प्रकार की आपत्तियों में वह स्त्री अन्य पति बना ले। इस श्लोक का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण कामलिप्सा से प्रेरित होकर दूसरा पति करने का अर्थ विधवा विवाह के समर्थक लगाते हैं, जो अत्यन्त भ्रामक (गलत) है। यहाँ पति का अर्थ संरक्षक या अभिभावक है। संरक्षक के लिए भी पति तथा स्वामी शब्द का प्रयोग होता है। मनु ने लिखा है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।

कौमारावस्था में पिता, यौवनावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में स्त्री को रहना चाहिए। उसे किसी भी अवस्था में संरक्षणहीन नहीं होना चाहिए। उसकी स्वतन्त्रता विविध दुर्गुणों का कारण हो सकती है। प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों ने मनु के वचनों का ही समर्थन किया है।

इसी भाव की परिपुष्टि में पराशर ने भी उपर्युक्त श्लोक को लिखा है; क्योंकि इन अवस्थाओं में नारी को संरक्षण किसी से न मिलने पर नारी को अपने धर्म या वैधव्य धर्म (अखण्ड ब्रह्मचर्यादि) का पालन करना सम्भव नहीं हो सकता। अत एव पराशर ने वैसी अवस्था में अन्य संरक्षक बना ले, ऐसा प्रतिपादन किया है।

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि जो कन्या एक बार दान कर दी गयी हो उसे विधवा होने के बाद कन्यादाता दान कैसे कर सकता है, क्योंकि दान का अर्थ ही होता है देय वस्तु से अपना अधिकार हटाकर दूसरे के अधिकार को स्थापित करना। दान कर देने पर वह नारी पिता की वस्तु ही नहीं रह गयी तो पुनः उसे दान कैसे करेंगे। अतः मनु ने लिखा है—

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ।।

पिता पुत्रादि के हिस्से को एक ही बार बाँटता है। कन्या एक ही बार पति के लिए दी जाती है और 'गौ आदि को देता हूँ' ऐसा वचन एक ही बार कहा जाता है। अर्थात् दान की हुई वस्तु का पुनः दान नहीं किया जा सकता है। सज्जनों के ये तीनों दान कर्म एक ही बार होते हैं। अनेक बार नहीं।

अतः सनातन धर्मावलम्बियों को कभी भी विधवा-विवाह नहीं करना चाहिए। कामलिप्सा को दृष्टि में रखकर यदि कोई व्यक्ति किसी पुरुष के साथ विधवा को लगा देता है तो उसे विवाह की संज्ञा नहीं देनी चाहिए। इस प्रकार की संज्ञा देने वाले धर्मसंरक्षक भगवान् श्रीकृष्ण के कोप के भाजन बनेंगे। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि– शास्त्र के प्रतिकूल कर्म करनेवाले को न इस लोक में सुख मिलता है और न वह पारलौकिक सुख का ही भाजन बनता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न पराङ्गतिम् ।।

●

प्रेम के वश में भगवान

समस्त जगत् ब्रह्म के अधीन है। जड़–चेतनात्मक जगत् का सृजन, पालन, संहार आदि कार्य परमात्मा के द्वारा ही होता है।

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ।।

अर्थात् ऋषि, पितर तथा जङ्गमाजङ्गम ये सब नारायण से उत्पन्न हुए हैं। सबका अन्तर्यामी बनकर सबों का नियन्त्रण वे ही करते हैं। यद्यपि ***'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्यमनसा सह'*** इस उपनिषद वचन के अनुसार भगवान मन वाणी से अतीत हैं, न उन्हें चिन्तन करने में मन समर्थ होता है न उनके महिमा के वर्णन करने में वाणी समर्थ होती है। फिर भी भक्त के प्रेमवश वे मन, वाणी के विषय बन जाते हैं।

एक बार देवर्षि नारद जी भगवान विष्णु के दर्शन करने जा रहे थे, मार्ग में एक पीपल वृक्ष के तले एक भक्त तपस्या कर रहे थे। उन्होंने नारद जी का दर्शन किया और उनसे पूछा कि आप कहाँ जा रहे हैं। देवर्षि नारद जी ने कहा कि मैं भगवान विष्णु के दर्शन करने जा रहा हूँ। भक्त ने कहा प्रभो! आप में शक्ति है अपने योगबल से प्रभु के पास पहुँचकर उनके दर्शन कर लेंगे, परन्तु मैं तो ज्ञानशक्ति आदि से विहीन हूँ। मुझे प्रभु का दर्शन कब होगा आप भगवान विष्णु से मेरे सम्बन्ध में पूछेंगे वे जो उत्तर देंगे उसे मुझे आकर सुनाइएगा। नारद जी भगवान विष्णु के पास पहुँचकर उनका दर्शन किए और उनसे पूछे कि एक आपका भक्त पीपल वृक्ष के नीचे तप कर रहा है उसको आप कब दर्शन दीजिएगा। भगवान ने कहा नारद जी? वह भक्त जिस विधि से मेरी उपासना कर रहा है उसके अनुसार उस पीपल में जितने पत्ते हैं उतने वर्ष के बाद मैं उसे दर्शन दूँगा। नारद जी लौटकर तपस्वी भक्त के पास आये भक्त ने उनका विधिवत् पूजन किया और उनसे पूछा कि भगवन्? आप मेरे सम्बन्ध में

भगवान से पूछे थे। नारद जी ने कहा हाँ मैने पूछा था, परन्तु उन्होंने जो उत्तर दिया उसे तुम्हे कहने में मुझे संकोच हो रहा है। भगवान ने कहा कि जिस पीपल वृक्ष के नीचे वह भक्त जिस विधि से मेरी उपासना कर रहा है उसके अनुसार उस पीपल में जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों के बाद मैं उसे दर्शन दूँगा। नारद जी के वचन सुनकर भक्त प्रेम विभोर हो गया, यह कहकर नाचने लगा कि भगवान का दर्शन तो अवश्य होगा, देर से ही सही; परन्तु प्रभु मेरे ऊपर कृपा करेंगे। प्रभु के प्रेम में भरकर इस प्रकार भजन करने लगा कि वह अपने को भूल गया। भक्त के अतिशय प्रेम जानकर भगवान उसी समय उसके सामने प्रकट हो गये। नारद जी ने कहा कि प्रभो? आप स्वयं झूठ बने और मुझे भी झुठ बनाये। मैंने तो इस भक्त से कह दिया कि तुम जिस पीपल वृक्ष के नीचे तपस्या कर रहे हो उस रूप में तपस्या करने पर भगवान ने कहा है कि उस पीपल में जितने पत्ते हैं उतने वर्ष के बाद दर्शन दूँगा; परन्तु आप शीघ्र इसके सामने प्रकट हो गए।

भगवान ने कहा नारद जी मेरे उस वचन पर ध्यान दीजिए। मैंने यह कहा था कि जिस रूप में वह मेरी उपासना कर रहा है, उस रूप से उपासना करते रहेगा तो पीपल में जितने पत्ते हैं उतने वर्षों के बाद मैं दर्शन दूँगा; परन्तु भक्त में अत्यधिक प्रेम आ गया। वह प्रेम विभोर होकर आर्त रूप में मेरा कीर्तन भजन करने लगा। इसलिए न मैं झूठ बोला और न इस भक्त से कहने के कारण आप असत्यवादी हुए। इस तरह भक्त के प्रेम विभोरावस्था में भगवान शीघ्र प्रगट हो जाते हैं, इसलिए भगवान का नाम वशी है।

श्रीराम ने छिपकर बालि को क्यों मारा?

(१) वा०रा० के १८वाँ सर्ग के ४५वाँ श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री गोविन्दराज जी ने कहा है कि बालि श्री राम को साक्षत् परमात्मा समझता था। श्री राम को उसके समक्ष उपस्थित होने पर बालि उनके प्रभाव को समझ कर शरणागत हो जाता। शारणगत होने पर श्रीराम बालि का वध कैसे करते? सुग्रीव के साथ श्रीराम की मित्रता हुई थी। उस का मुख उद्देश्य था बालि का वध कर सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बनाना। वाली को शरणागत हो जाने पर बालि वध कार्य नहीं होने से सुग्रीव के साथ हुई प्रतिज्ञा व्यर्थ हो जाती। साथ ही बालि का मित्र रावण था। बालि के शरणागत हो जाने पर रावण भी शरणागत हो जाता। उससे देवताओं तथा ऋषियों के ही रावण वध रूप कार्य नहीं होता। अत: श्रीराम ने बालि को सामने से वध न करके छिपकर मारा।

(२) ११वाँ सर्ग के ३९ वाँ श्लोक की व्याख्या करते हुए गोविन्द राज जी ने यह भी कहा है कि इन्द्र ने बालि को एक सुवर्णमाला देकर कहा था कि इस माला को पहन कर युद्ध करने में विपक्षी का बल माला के प्रभाव से तुम में आ जायेगा।

(३) १३वाँ सर्ग के ४६ श्लोक की व्याख्या करते हुए एक टीकाकार ने इसका समाधान दिया है कि ब्रह्मा ने बालि को बुलाकर यह वरदान दिया था कि सन्मुख होकर लड़ने वाला का आधा बल तुमको प्राप्त हो जायेगा। इसलिए श्री राम ने सन्मुख होकर बालि को वाण नहीं मारा।

सुमित्रा को श्रीरामतत्त्व का पूर्ण ज्ञान था

महामुनि विश्वामित्र जी अपनी यज्ञ रक्षार्थ अयोध्याधिपति राजा दशरथ के पास गये। उन्होंने कहा कि राजन् मैं सिद्धाश्रम में यज्ञ कर रहा हूँ। वहाँ राक्षसगण यज्ञ को सफल नहीं होने दे रहे हैं। अत: आप लक्ष्मण सहित श्रीराम को मुझे दे दीजिए। वे यज्ञ में विध्न पहुँचाने वाले राक्षसों को मार कर यज्ञ की सफलता प्रदान करेंगे। महाराज दशरथ ने कहा कि सोलह वर्ष की आयु होने पर युद्ध की योग्यता होती है। अभी राम सोलह वर्ष के नहीं हुए हैं। इसलिए इन्हें मैं नहीं दूँगा। मुनिवर विश्वामित्र ने कहा कि तुम राम को नहीं पहचानते हो। इसलिए ऐसी बातें कह रहे हो। जो सच्चे योगी होते हैं वे ही राम को पहचानते हैं।

अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्य पराक्रमम्।
वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिता: ।।

(वा०रा०)

अर्थात् मैं श्री वसिष्ठ जी तथा जो तपस्या में संलग्न है, वे श्रीराम को पहचानते हैं। राम साक्षात् ब्रह्म परमात्मा नारायण हैं। जब वसिष्ठ जी ने श्रीराजा दशरथ को श्रीराम तत्त्व का ज्ञान कराया तब उन्होंने श्रीराम को देने के लिए स्वीकार कर लिया।

श्रीमती कौसल्या जी ने राम को जन्मकाल में चतुर्भुज नारायण के रूप में देखा था। वह भी द्विभुज रूप में राम के दर्शन करने पर श्रीराम तत्त्व को भूल गई। अत एव श्रीराम को वनगमन काल में कौसल्या जी कही हैं कि मुझे वन्ध्या रहना कहीं अच्छा था; क्योंकि तब मैं पुत्र वियोग जन्य दु:ख से वंचित रह जाती।

दूसरी बात कही कि पिता से माता बड़ी होती है, इसलिए तुम्हारे पिता जी ने तुम्हें वन गमन कहा है तो तुम वन मत जाओ, इससे स्पष्ट हो रहा है कौसल्या जी को श्रीराम तत्त्व का पूर्ण ज्ञान नहीं था।

श्रीमती सुमित्रा जी एक विदुषी नारी थी। वह श्रीराम तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को समझती थी। जब भगवान श्रीराम को वन जाने का निश्चय हो गया तब श्री लक्ष्मण जी ने उनके चरणों में शरणागत होकर कहा कि आप मुझे अनुचर बनाकर साथ में ले चले। मैं सब प्रकार से आपकी सेवा करुँगा उससे मेरा जीवन सफल हो जाएगा। श्रीराम ने कहा लक्ष्मण तुम अपनी माँ से अनुमति ले लो, जब तुम्हारी माँ साथ चलने के लिए अनुमति दे देगी तब मैं तुम्हें साथ ले चलूँगा। लक्ष्मण जी आदेश लेने के लिए अपनी माँ सुमित्रा के पास गये, उन्होंने अपनी माँ से कहा कि मैं बड़े भाई श्रीराम के साथ उनके सेवा के लिए वन में जाना चाहता हूँ। सुमित्रा जी ने कहा कि बेटा अगर राम वन में जा रहे हैं तो तुम उनकी सेवा के लिए सहर्ष जाओ। श्रीराम को अपना पिता समझना और सीता को माता।

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामुसब भाँति सनेही।।
अवध तहाँ जहाँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू।।
जौं पै सीच रामु बन जाहीं।
अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं।।

सुमित्रा महारानी ने यहाँ तक कह दिया कि जगत् में वही माता पुत्रवती है जिसका पुत्र श्रीराम का भक्त हो। श्रीराम से विमुख रहनेवाला पुत्र से वाँझ रह जाना कहीं अच्छा है। पुन: सुमित्रा जी ने

कहा कि लक्ष्मण तुम्हारे भाग से ही राम वन जा रहे हैं, वहाँ तुम्हें सब प्रकार की सेवा करने का अवसर प्राप्त होगा। उन्होंने कहा कि श्रीराम को वन जाने में दूसरा कारण नहीं है ***'दूसर हेतु तात कछु नाहीं'*** उन्होंने कहा कि श्रीराम के प्रति कभी राग द्वेष नहीं लाना। अनन्य भाव से मन, क्रम और वचन से उनकी सेवा करना। तुम ऐसा करना कि किसी प्रकार के वन में राम को क्लेश नहीं हो।

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे
राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर
सुख सुरति बन बिसरावहीं।।
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु
दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय
रघुबीर पद नित नित नई।।

सुमित्रा एक विदुषी नारी थी। वह श्रीराम, सीता और लक्ष्मण के यथार्थ स्वरूप को समझती थी। उसे रामतत्त्व का पूर्ण ज्ञान था। वह श्रीराम को साक्षात् ब्रह्म के रूप में देखती थी। अत एव लक्ष्मण के लिए उसे मोह नहीं हुआ। उसने श्रीराम को श्रीविष्णु और सीता को लक्ष्मी समझकर उनकी सेवा में शेषावतार लक्ष्मण को आनन्दपूर्वक भेज दिया। सुमित्रा ने जब देखा कि राजा दशरथ और कौसल्या–ये दोनों पुत्रवियोगजन्य शोक के कारण विलाप कर रहे हैं, तब उसने कौसल्या से कहा कि तुम्हारे पुत्र श्रीराम पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। वे समस्त उत्तम गुणों के निधि हैं। उनके लिए विलाप करना और दीनता दिखाना व्यर्थ है। जो राज्य छोड़कर अपने पिता को सत्यवादी बनाने के लिए वन मे चले गए, जो उत्तम धर्म में स्थित हैं, जो परलोक में भी सुखमय फल प्रदान करने वाले हैं, उन श्रीराम के लिए कदापि शोक नहीं करना चाहिए। जिस प्रभु की संसार में कीर्तिमयी पताका फहरा रही है तथा जो सदा सत्य के पालन में तत्पर रहते हैं, उस धर्मस्वरूप श्रीराम को कौन-सा श्रेय प्राप्त नहीं हुआ? जिन्हें विश्वामित्र ने अनेक दिव्यास्त्र प्रदान किये हैं, वे श्रीराम महान् वीर हैं। वे अपने बाहुबल से जैसे महल में रहते थे, वैसे ही वन में भी निर्भय होकर रहेंगे। श्रीराम की जैसी शोभा, जैसा पराक्रम और जैसी कल्याणकारिणी शक्ति है, उससे ज्ञात होता है कि वे वन से लौटकर शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे। श्रीराम सूर्य के भी सूर्य, अग्नि के भी अग्नि, प्रभु के भी प्रभु, लक्ष्मी की भी लक्ष्मी और क्षमा के भी क्षमा हैं। वे देवताओं के भी देवता तथा भूतों के भी उत्तम भूत हैं श्रीराम वन में रहें या नगर में, उनके लिए सर्वत्र समान है। मैं सत्य कहती हूँ, तुम वनवास की अवधि पूरी होने पर श्रीराम को अवश्य देखोगी। अत: शोक-मोह छोड़ दो। श्रीराम से बढ़कर सन्मार्ग में स्थित रहने वाला मनुष्य संसार में दूसरा कोई नहीं है। सुमित्रा के वचन सुनकर कौसल्या का सारा शोक तत्काल विलीन हो गया।

सुमित्रा ने जो उपदेश किया है, वह वेदान्त तत्त्व का रहस्यात्मक उपदेश है। उससे ***'भयादस्याग्निः तपति भयात् तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युः धावति पञ्चमः' 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्, तं देवतानां परमं च दैवतम्०'*** आदि उपनिषद मन्त्रों का स्मरण हो रहा है। कौसल्या और राजा दशरथ को भले ही श्रीराम के ब्रह्मत्व में संशय हो, परन्तु सुमित्रा को लेशमात्र भी सन्देह नहीं था।

भगवद्भक्तों की मुक्ति में उत्तरायण-दक्षिणायन का भेद नहीं

सामान्य लोगों को यह भ्रम है कि अच्छे ज्ञानी भक्त ब्रह्मनिष्ठ होने पर भी सूर्य की दक्षिणायन में मृत्यु होने पर उनकी मुक्ति नहीं होती है। मुक्ति के लिए उत्तरायण, दिन, शुक्लपक्ष यही समय उपयुक्त है; परन्तु छान्दोग्योपनिषद् में यह कहा गया है कि जो सच्चे भगवद्भक्त हैं उन्हें मुक्ति तब तक नहीं होती है जब तक पाञ्चभौतिक शरीर नहीं छूटता ***'आचार्य वान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं शवन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'*** (अ० ६.१४.२) इसका निर्णय श्रीवेदव्यास जी ने अध्याय ४ पाद २ के सूत्र १८, १९ और २० द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि भगवद् भक्तों के लिए उत्तरायण, पक्ष और दिन-रात का भेद नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् (९.१४.२) के अनुसार कभी भी मरने पर मुक्ति होती है। निम्नलिखित ब्रह्मसूत्र पर ध्यान दें—

(१) निशि नेतिचेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्-र्शयति च ।

(२) अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।

(३) योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्ते चैते ।

(१) रात्रि में मृत्यु होने पर मुक्ति नहीं होती है ये कथन ठीक नहीं; क्योंकि इस उपनिषद् मन्त्र से ***'तस्यतावदेव०'*** यह सिद्ध है कि ब्रह्मनिष्ठ भगवद्भक्तों की मुक्ति रात्रि में मरने पर भी होती है।

(२) उत्तरायण-दक्षिणायन का भेद भी भगवद्भक्तों की मुक्ति में मान्य नहीं है। किसी समय भी (उत्तरायण-दक्षिणायन दिन या रात, कृष्णपक्ष या शुक्लपक्ष) में मृत्यु होने पर मुक्ति होती ही है।

(३) **अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।**
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।

यहाँ उपासकों के मरणकाल का विशेष उल्लेख नहीं है; किन्तु कर्मयोग में संलग्न व्यक्तियों की गति का उल्लेख है। यहाँ काल शब्द कालाभिमानि देवता अतिवाहिक का वाचक है, समय का वाचक नहीं है। जिस मार्ग से कर्मयोगी को जाने में अग्नि-ज्योति शुक्ल पक्ष और उत्तरायणाभिमानि देवता मिलते हैं। उस मार्ग से गये हुए योगी ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें पुनः लौटना नहीं पड़ता। इस मार्ग को देवयान कहते हैं। जिस मार्ग में जाने पर कर्मयोगियों को धुम्र, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनदेव मिलते हैं, वे पुण्यलोक में जा कर पुण्यफल भोगने के बाद पुनः इस मर्त्यलोक में लौट आते हैं। उसे पितृयान कहते हैं। अतः गीता के इन वचनों से मरने वालों के काल का निर्णय नहीं है।

इस प्रसङ्ग में महात्मा भीष्मपितामह का मरण भी लोगों के लिए भ्रामक हो जाता है। महात्मा भीष्मपितामह जब अर्जुन के बाण से आहत होकर पृथिवी पर गिर पड़े। उस समय भीष्मपितामह ने सोचा इस समय प्राण त्याग करना उचित नहीं होगा। अतः उत्तरायण की प्रतीक्षा में वे ५८ दिनों तक शरशय्या पर पड़े रहे और जब सूर्य उत्तरायण हुए तब उन्होंने प्राणत्याग दिया। भीष्म के इस आचरण से कुछ लोगों के मानसपटल पर यह बात अङ्कित हो गयी कि उत्तरायण में शरीर त्याग करने वाले ही भगवल्लोक के अधिकारी होते हैं, परन्तु वस्तु स्थिति कुछ और ही है। भगवद्भक्त उत्तरायण में मरे या दक्षिणायन में उनकी गति अर्चिरादि मार्ग से होती है और वे भगवल्लोक प्राप्त करते हैं, लेकिन इसके अतिरिक्त लोग किसी अयन में मरे उनकी गति धूम्रमार्ग से ही होगी और वे भगवद् लोक प्राप्ति से वञ्चित रहेंगे।

भीष्मपितामह ने उत्तरायण में शरीर का त्याग क्योंकिया इसका समाधान जगदगुरु स्वामी रामानुजाचार्य जी महाराज ***'अतश्चायनेऽपि दक्षिणे'*** इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में लिखा है—

'भीष्मादीनां योगप्रभावात् स्वच्छन्द मरणानां धर्मप्रवर्तनायोत्तरायणप्राशस्त्य प्रदर्शनार्थस्तथा-विधाचारः'।

अर्थात् भीष्म के उत्तरायण की प्रतीक्षा में तीन कारण हैं—

१. तत्त्वदर्शी महात्मा भीष्मपितामह यह बात जानते थे कि दक्षिणायन में मरने पर भी अर्चिगति द्वारा मुक्ति सम्भव है, तथापि उन्होंने ऐसा आचरण कर उत्तरायण को प्रशस्त बतलाकर श्रेष्ठ सिद्ध किया है। सभी माङ्गलिक कृत्य उत्तरायण में ही होते हैं, यथा—यज्ञ-प्रतिष्ठा, उपनयन, विवाहादि। भगवद्भक्त अपनी मृत्यु को मङ्गल मानते हैं, अतः भीष्म ने अपनी मृत्यु को माङ्गलिक मानकर उत्तरायण की प्रतीक्षा की।

२. यदि बाण लगते ही भीष्म पितामह तत्काल शरीर छोड़ देते तो संसार के सामने भ्रम उत्पन्न हो जाता कि भीष्म की जब ऐच्छिक मृत्यु थी तब बाण लगते उनकी मृत्यु क्यों हो गई? अतः भीष्म ने कुछ दिनों तक शरीर रखकर ऐच्छिक मृत्यु को प्रमाणित कर दिया।

३. भीष्म पितामह दूरदर्शी थे, लोकोपकार की भावना उनमें भरी थी। अत एव उन्होंने विचार किया कि यदि मैं तत्काल प्राण त्याग देता हूँ, तो मेरा समस्त लौकिक, पारलौकिक ज्ञान साथ ही चला जायेगा। यदि अभी कुछ दिन और इस धरा पर रहता हूँ तो लोगों को उपदेश देकर अपनी विद्या सार्थक की जा सकती है। इसी तथ्य को भगवान् श्रीकृष्ण ने भी युधिष्ठिर के सामने प्रदर्शित करते हुए कहा है—

पाण्डुनन्दन ! भीष्म शरशय्या पर पड़े हैं, इनके संसार से चले जाने पर यह जगत् ज्ञानशून्य हो अज्ञानान्धकार में डूब जायेगा। भीष्म जैसा तत्त्वज्ञानी पृथ्वी पर दूसरा नहीं है। अतः उनके समीप चलकर यथा सम्भव ज्ञानार्जन करो। यह बात महाभारत में स्पष्ट है कि इतना कहने पर ही युधिष्ठिरादि पाण्डव पितामह भीष्म के पास गये हैं और वहाँ उन लोगों ने शरशय्याशायी भीष्म से वो ज्ञान प्राप्त किया, जिससे आज भी जगत् प्रकाशित हो रहा है। भीष्म के उपदेशों को महाभारत से हटा दिया जाय तो बचता ही क्या है? पितामह ने इस क्रम में स्तवराज, अनुस्मृति, विष्णुसहस्रनाम जैसे रत्नों का वाचिक दान दिया, वेद व्यास रचित पञ्चम वेद स्वरूप महाभारत में इन सबों का अपना विशिष्ट स्थान है, प्रमाण के लिए निम्न श्लोक अवलोकनीय है—

गीता सहस्रनामञ्च स्तवराज अनुस्मृतिः ।
गजेन्द्रमोक्षणश्चैव पञ्च रत्नानि भारते ।।

उपर्युक्त बिन्दुओं पर दृकपात् करने से यह निष्कर्ष सामने आता है कि उत्तरायण-दक्षिणायन भेद कर्मियों कि लिए है, भगवद्भक्त किसी देश, किसी अवस्था, किसी काल में शरीर त्याग करे वह अर्चिरादिमार्ग का पथिक बन भगवद्लोक का अधिकारी बनता ही है।

वाराहपुराण में लिखा है कि भगवान में प्रेम रखने वाला भक्त गल्ली में, मूत्रविष्ठा आदि पर, चण्डाल के घर में अथवा श्मशान में भी मरता है तब भी निश्चय ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भगवद्भक्तों को मुक्ति के लिए अयोध्या, काशी, वृन्दावन आदि देशों में शरीर छोड़ना अनिवार्य नहीं है।

एक ही ब्रह्म सगुण-निर्गुण दोनों हैं

बह्म स्वरूप के निर्णय में वेदान्त शास्त्र प्रमाण है। वेदान्त में उपनिषद् गीता और ब्रह्मसूत्र ये तीनों माने जाते हैं। अत एव ब्रह्मस्वरूप का निर्धारण उपनिषद् मन्त्रों के द्वारा ही किया जाता है। यही कारण है कि सभी ब्रह्मवादी दार्शनिकों ने ''शास्त्रयोनित्वात्'' इस वेदान्त सूत्र की व्याख्या करते हुए ब्रह्म में शास्त्र ही प्रमाण है दूसरा नहीं- ऐसा लिखा है। किसी ब्रह्मवादी दार्शनिक का ऐसा वचन नहीं मिलता जो ब्रह्म के सम्बन्ध में मेरा अनुभव इस प्रकार है–ऐसा लिखा हो।

शास्त्र से दूर हटकर अनुभव के आधार पर ब्रह्म स्वरूप का वर्णन वे लोग ही करते हैं जो धर्म के नाम पर नूतन मार्ग चलाकर जनता को शास्त्रपथ से विचलित करना चाहते है। इस समय ***'मारग से जाकहँ जोई भावा'*** के अनुसार अनेक शास्त्रद्रोही उत्पन्न हो गये हैं। परन्तु ब्रह्मस्वरूप निर्णय में नूतन मार्ग चालकों का वचन प्रमाण नहीं हो सकता। शास्त्र वचन ही प्रमाण हो सकते हैं। अत एव सर्वत्र वेदान्त-वेद्य ईश्वर को कहा गया है।

सूरदास, तुलसीदास प्रभृति भक्तों ने ब्रह्म स्वरूप तथा उनके दिव्य गुणों के वर्णन में शास्त्रों का ही सहारा लिया है। अब उपनिषद् तथा उसका उपबृंहण रूप इतिहास पुराणादि के द्वारा ब्रह्म स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व सगुण-निर्गुण शब्दार्थ का विवेचन कर लेना आवश्यक है। सगुण का अर्थ गुण सहित और निर्गुण का अर्थ गुण-रहित होता है। गुण दो प्रकार के होते हैं—प्राकृत और अप्राकृत (दिव्य)।

रजस्तम इति गुणाः सम्भवाः।

इस गीता वचन के अनुसार रजोगुण, तमोगुण और मित्रसत्त्व प्राकृत गुण माने गये हैं—

पराऽस्य शक्ति विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

इस उपनिषद् वचन के अनुसार शक्ति, बल, क्रिया आदि दिव्य गुणों का वर्णन उपलब्ध होता है।

उपनिषदों में ब्रह्म का विशेषण निर्गुण निष्क्रिय, निरञ्जन आदि शब्दों से दिया गया है।

यहाँ पर निर्गुण का अर्थ प्राकृत सत्त्व, रज और तम इन गुणों से रहित ब्रह्म है। उस ब्रह्म में प्राकृत गुणों का सम्बन्ध नहीं है। यह दिखलाया गया है। इसी तरह ***'एष आत्मा अपहतपाप्मा विरजो विमृत्युर्विशोको विजिधित्सोऽपिपासः'*** से प्राकृतगुण जन्य दोषों का ब्रह्म में निषेध किया गया है। अतः जहाँ कहीं भी ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है वहाँ प्राकृत हेयगुणों से रहित ब्रह्म है– ऐसा समझा जाता है। इसलिए भाष्यकार श्रीस्वामी रामानुजाचार्य ने लिखा है कि ***'निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणा-सम्बन्धादुपपद्यन्ते'*** सगुण का अर्थ अप्राकृत दिव्य गुणों से युक्त होता है। उपनिषदों में ब्रह्म के स्वाभाविक शक्ति, ज्ञान, बल, क्रिया, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प, सौशील्य, सौलभ्य, वात्सल्यादि दिव्य-गुणों का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। अत एव पञ्चस्तवी में श्रीकुरेश स्वामी ने लिखा है—

दूरे गुणास्तव तु सत्त्वरजस्तमांसि,
तेनत्रयी प्रथयति त्वयि निर्गुणत्वम्।
नित्यं हरे सकल सद्गुण सागरं हि
त्वामामनन्ति परमेश्वरमीश्वराणाम्।।

अर्थात् हे हरे! आप में मिश्रसत्व, रजोगुण तथा तमोगुण नही है। इसलिए वेद आपको निर्गुण कहते हैं और अनन्त कल्याण गुणों के समुद्र होने से सगुण।

'युक्तं तद्गुणकोपासनात्' भाष्यकार की इस उक्ति से मोक्ष के साधनभूत सभी ब्रह्म विद्याओं का उपास्य सगुण ब्रह्म ही हैं तथा उन ब्रह्म विद्यायों से सगुण ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। ***'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'*** यह श्रुति वाक्य सत्यत्व, ज्ञान, अनन्तत्व इन तीनों गुणों का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म दो प्रकार से अनन्त है–स्वरूप से एवं गुण से। देश, काल एवं वस्तु परिच्छेद से रहित होने के कारण ब्रह्म स्वरूपकृत अनन्त है और अनन्त कल्याणगुणों से युक्त होने के कारण गुणकृत अनन्त है।

कौषीतकी आदि उपनिषदों में जहाँ अर्चिरादि मार्ग से जानेवाले जीवों का वर्णन है, वहाँ यह भी लिखा है कि जीव भी नित्य विभूति श्री वैकुण्ठ में भगवान् के समान हो चतुर्भुज बनकर ब्रह्म की उपासना में संलग्न हो जाते हैं।

वैकुण्ठे तु परे लोके श्रिया सार्द्धजगत्पतिः ।
उभाभ्यां भूमिनीलाभ्यां सेवितः परमेश्वरः ।।

इस शास्त्र वचन के अनुसार त्रिपाद विभूति में ब्रह्म सदा सगुणसकार ही रहता है। अतः जहाँ निष्कलं, निष्क्रियं शान्तं, निरवद्यम् आदि श्रौतगुण का निषेध किया गया है वहाँ प्राकृत रजोगुण आदि का तथा उनके संसर्ग से उत्पन्न हेय गुणों का ही भाव है। अगर ब्रह्म को सभी गुणों से रहित मान लिया जाय तो शक्ति ज्ञान, बल आदि ब्रह्मगत दिव्य गुणों के वर्णन करने वाले श्रुति वाक्यों से विरोध होगा। उन श्रुति वाक्यों की सार्थकता नहीं रह जायेगी। कुछ लोगों ने सगुण श्रुति वाक्यों को व्यावहारिक तथा निर्गुण श्रुति वाक्यों को पारमार्थिक मानकर ब्रह्म को निर्गुण सिद्ध करने का प्रयास किया है, जो समुचित नहीं है; क्योंकि सगुण-निर्गुण दोनों वाक्यों की श्रुति होने से समान प्रामाणिकता है। व्यावहारिक और पारमार्थिक कहकर श्रुतिवाक्यों में प्रामाणिकता का न्यूताधिक्य दिखलाना वैदुष्य-विरुद्ध तथा श्रुतियों पर आघात पहुँचाना होगा। कुछ लोग सगुण का सकार तथा निर्गुण का निराकार अर्थ करते हैं जो सम्भव नहीं। अगर ब्रह्म के सम्बन्ध में साकार निराकार को लेकर विचार किया जाय तो ब्रह्म साकार निराकार दोनों हैं। प्राकृत पञ्चभूत निर्मित आकार से रहित होने के कारण ब्रह्म को निराकर कहा जाता है।

न तस्य प्राकृता मूर्तिमांसमेदोऽस्थिसम्भवा ।

दिव्य अप्राकृत स्वरूप धारण करने के कारण ब्रह्म को साकार कहा जाता है। इस तरह ब्रह्म साकार निराकार दोनों रूपों में रहता है।

ब्रह्म की उपासना करने वाले, ध्रुव, प्रह्लादादि भक्तों को भगवान् ने सगुण-साकार रूप में ही दर्शन दिया है। जटायु धुन्धकारी आदि के मुक्ति प्रसंग से भी स्पष्ट है कि ब्रह्म सगुण साकार दोनों ही रूपों में रहता है। अगर ऐसा नहीं होता तो धुन्धकारी तथा जटायु को सारूप्य मुक्ति में अपने समान रूप देकर त्रिपाद् विभूति नहीं भेजते। श्रीराम, कृष्णादि अवतारों से पूर्व तपस्वी भक्तों को भगवान ने साकार रूप में ही दर्शन दिया तथा श्रीराम कृष्णादि सगुणसाकार रूप में ही ब्रह्म की सारी लीलायें हुई, इसे निर्गुणवादी भी सहर्ष स्वीकार करते हैं। अगर निर्गुणवादी ब्रह्म को निर्गुण ही मानते और निर्गुण का अर्थ सर्वविध गुण रहित करते हैं तो श्रीमद् भागवत, वाल्मीकि रामायण तथा अन्य पुराण जिनमें सगुण ब्रह्मस्वरूप तथा उसकी लीलाओं का वर्णन किया गया है उन शास्त्रों को आधार मानकर अपनी वाणी को व्यर्थ क्यों करते है? जहाँ अवतारवाद आ जाता है वहाँ निर्गुणवाद स्वतः समाप्त हो जाता है। इसलिए मानस की वेद स्तुति के प्रसंग में लिखा है—

जो ब्रह्म अजमद्वैतमनुभव गम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।।

मानसकार ने सगुण निर्गुण में भेद नहीं माना

है—

सगुनहिं अगुनहिं नहि कछु भेदा ।
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा ।।
अगुन सगुन दुह ब्रह्म सरूपा ।
अकथ अगाध अनादि अरूपा ।।

विष्वक्सेनसंहिता के अनुसार ब्रह्म के पाँच रूप माने गये हैं–पर, व्यूह, वैभव, अर्चा और अन्तर्यामी, उनके स्वरूप का वर्णन उपनिषदों में भी पाया जाता है—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा।
शरीर य आत्मनमन्तरो यमयति सत आत्मान्तर्याम्यमृतः।।

इस अन्तर्यामी रूप का अव्यक्त, अगुण, अरूप, अनाम आदि शब्दों से यत्र-तत्र कवियों ने वर्णन किया है।

''एक दारुगत देखिअ एकु।।''
''ब्रह्मणो द्वेरूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च।।''

यहाँ अमूर्त्त शब्द से अन्तर्यामी ब्रह्म तथा मूर्त्त शब्द से साकार ब्रह्म का वर्णन किया गया है।

●

भागवान की उदारता

श्रीनिवास भगवान हमहि अपने अपनाये जी ।
ग्रन्थन में यह मिलत सबन में,
नर तन सुर दुर्लभ भारत में,
दे कर के भगवान हमहि,
वैष्णव बनवाये जी ।।श्री०।।

अर्थ—श्री का अर्थ है महालक्ष्मी। वे भगवान के हृदय में वास करती हैं। इसलिए भगवान श्रीनिवास कहे जाते हैं। 'पद्य' निर्माता पूज्यपाद श्रीस्वामी जी ने कहा—श्रीनिवास भगवान हमें अपनी कृपा ही कर अपनाये हैं अर्थात् इसमें मेरा कर्म कारण नहीं है। एक मात्र भगवान की कृपा कारण है। उनकी निर्हेतुकी कृपा हमारे ऊपर हुई है।

वेद, पुराण और इतिहास आदि सभी ग्रन्थों में लिखा हुआ है कि जीव अपने कर्मानुसार बार-बार पशु-पक्षी आदि चौरासी लाख प्रकार के शरीरों में जन्म धारण कर कष्ट भोगते हैं। उनके कष्ट को देखकर भगवान ने उन पर दया करके विवेक प्रधान सर्वसाधन के योग्य मानव शरीर दिया है।

एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाने स्वकर्मभिः ।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा क्वाप्युपजायते ।।

जिस भूमि पर भगवान ने सदा अवतार ग्रहण किया है, उस भूमि की भूरि-भूरि प्रशंसा देवताओं ने की है।

(क) 'अहो अमीषां किमकारिशोभनम्०'।

(ख) 'गायन्ति देवाः किलगीत कानि, धन्यास्तु ते भारत भूमि जन्म' ।

भगवान ने कृपाकर इस भारतवर्ष में मानव शरीर दिया है। उससे भी उत्तम कार्य प्रभु ने यह किया कि सुयोग्य गुरु के द्वारा श्रीवैष्णव बनवा दिया। जब तक सुयोग्य गुरु नहीं मिलते तब तक जीव का कल्याण नहीं होता है।

विनु गुरु भवनिधि तरइ न कोई ।
जो विरिञ्चि शङ्कर सम होई ।।

सुयोग्य गुरु के द्वारा पञ्चसंस्कार से संस्कृत होना ही श्रीवैष्णव होता है—(१) सुयोग्य आचार्य तप्त चक्र एवं शङ्ख से क्रमशः दायी एवं वायीं भुजा को अङ्कित करते हैं। (२) ललाट में ऊर्ध्वपुण्ड्र चन्दन लगाते हैं। (३) भगवत् परक नाम रखते हैं। (४) दक्षिण कर्ण में मूल-द्वय और चरम इन तीनों मन्त्रों का उपदेश करते हैं। (५) शिष्य के सिर पर शालग्राम भगवान को रखकर पूर्व सञ्चित समस्त पापों के नाश के लिये प्रार्थना करते हैं।

नारायणदया सिन्धो वात्सल्यगुण सागर ।
एनं रक्ष जगन्नाथ बहुजन्मापराधिनम् ।।

श्रीनिवास भगवान के चरणों में चक्राङ्कित होकर पूर्ण समर्पित हो जाना ही श्रीवैष्णवता है। उससे शरणागत जीव की रक्षा का पूर्ण भार भगवान अपने ऊपर ले लेते हैं। यहाँ से वैकुण्ठ तक पहुँचाने का भार भगवान के ऊपर चला जाता है ।।१।।

पञ्चरात्र से शास्त्र मनोहर,
गीता के ज्ञानों अति सुन्दर,
ऐसे वचन सुनाय सुगम,
मारग बतलाये जी ।।श्री०।।

अर्थ—भगवान नारायण ने पाञ्चरात्र शास्त्र का उपदेश नारद को किया है। 'पाञ्चरात्रस्य शास्त्रस्य वक्ता नारायण: स्वयम्' उसमें कर्मों द्वारा किस प्रकार कर्मबन्धन से मुक्ति मिलती है, इसका वर्णन किया गया है। श्रीमद्भ-गवद्गीता का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को किया।

पाञ्चरात्र और गीता इन दोनों में मानव कल्याण के सुलभ उपाय, भगवान की उपासना, एवं शरणागति बतलायी गयी है। भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर मानव के लिये कहा है कि 'तुम मेरे चरण को उपाय मान लो' मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत करो। जीव को संसार के कष्टों से उद्धार के लिये इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं है ।।२।।

भाष्यकार के चरण लगाकर,
भगवत जन के सुहृद् बनाकर,
इन कर सेवा दे कर सुलभ-
उपाय बताये जी ।।श्री०।।

अर्थ—ब्रह्मसूत्र का भाष्य श्रीस्वामी रामानुजाचार्य जी ने किया है, जो 'श्रीभाष्य' नाम से प्रसिद्ध है। इसलिए श्रीभाष्यकार शब्द से स्वामी रामानुजाचार्य जी प्रसिद्ध हैं। शरणागत श्रीवैष्णवों के उद्धार के लिये श्रीभाष्यकार स्वामी रामानुजाचार्य ने भगवान से वरदान प्राप्त कर लिया है कि श्रीवैष्णवों को मोक्ष अवश्य प्राप्त हो।

भगवान ने इसे स्वीकार कर लिया है। 'देहावसाने भक्तानां ददामि परमं पदम्'। श्रीवैष्णव के सारे भगवत भक्त बान्धव है, कमला देवी श्रीमहालक्ष्मी जी सब भक्तों की माता हैं। जनार्दन भगवान पिता और तीनों लोक ही अपना घर है।

माता कमलादेवी पिता देवो जनार्दनः ।
बान्धवा विष्णुभक्ताश्च स्वदेशोभुवनत्रयम् ।।

भगवान की सेवा से अधिक महत्त्व है भगवद् भक्तों की सेवा। इसे ही भागवत पारतन्त्र्य या 'विशेषतम' धर्म कहते हैं। भागवत की सेवा से भगवान शीघ्र प्रसन्न होते हैं। श्रीवैष्णवों का सीधा सम्बन्ध श्रीभाष्यकार स्वामी से है। उनके सम्बन्ध से ही मुक्ति मिल जाती है। इसलिए 'यति-राजस्तोत्र' में कहा गया है—कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और आचार्याभिमान, जिसमें आचार्याभिमान सुलभ एवं सुगम है। हम रामानुज स्वामी की परम्परा में हैं। अत: हमें मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा यही 'आचार्याभिमान' है। इसलिए अपने कल्याण के लिये आचार्य के प्रति पूर्ण विश्वास रखें।।३।।

दीन-हीन लख कृपा किये प्रभु,
आरत हर गुण प्रकट किये हरि,
युगल चरण अति सुन्दर,
सिद्ध उपाय बताये जी ।।श्री०।।

अर्थ—दीन-हीन समझकर भगवान ने कृपा की है। भगवान दीनबन्धु हैं। वे दीनों पर कृपा करते हैं। उससे भगवान में आरतहर गुण प्रकट होता है। भगवान वेङ्कटेश अपने हाथ से दोनों चरणों को दिखाते हुए कहते हैं कि ये मेरे चरणकमल ही भवसागर से पार करने के लिये अति सुन्दर एवं सिद्ध उपाय है।

'सिद्ध उपाय' का अर्थ है–भगवान के चरणों

में दृढ़ विश्वास हो जाने पर उसके लिये अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं समझे। एक मात्र भगवान के चरण-कमल ही भवसागर से पार करने के लिए सेतु है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में भगवान के चरणों को भवसागर से पार करने के लिए जहाज एवं नौका के रूप में स्वीकार किया गया है ।।४।।

•

श्रीनिवास आश्रित हित अपना,
अर्चा रूप बनाते हैं।
द्रवित हृदय से आये गिरि पर,
वेङ्कटनाथ कहाते हैं।।

अर्थ—विश्वक्सेन संहिता के अनुसार भगवान के पाँच रूप हैं–(क) पर, (ख) व्यूह, (ग) विभव, (घ) अन्तर्यामी और (ङ) अर्चा।

(क) दिव्यधाम वैकुण्ठ में भगवान श्री, भू और नीला–इन तीन देवियों के साथ दिव्य मणिमय मण्डप में शेष शय्या पर विराजते हैं। भगवान का वह 'पर' रूप है।

वैकुण्ठे तु परे लोके श्रिया सार्द्धं जगत्पतिः।
आस्ते विष्णुरचिन्त्यात्मा भक्तैर्भागवतैः सह।।

(ख) समस्त जगत् का ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य–इन छः गुणों को 'भग' कहते हैं। 'भग' जिनमें रहते हैं वे भगवान कहलाते हैं। उनमें दो-दो गुणों की प्रधानता लेकर भगवान सङ्कर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप में आते हैं, वे 'व्यूह' कहलाते हैं। इसमें वासुदेव को मिला देने पर 'चतुर्व्यूह' हो जाते हैं। ज्ञान और बल का निधान सङ्कर्षण हैं। ऐश्वर्य और वीर्य के प्रद्युम्न, शक्ति और तेज के अनिरुद्ध। सृष्टि के अधिष्ठाता हैं प्रद्युम्न, स्थिति के अधिष्ठता हैं अनिरुद्ध और प्रलय के अधिष्ठाता हैं सङ्कर्षण।

(ग) मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण और कल्कि–ये भगवान के दश अवतार 'विभव' रूप हैं। ***(घ)*** जड़-चेतनमय जगत् के सर्वांश में भगवान जिस रूप में रहते हैं, वह रूप अन्तर्यामी है। ***(ङ)*** मन्दिरों में स्थिर होकर जो भगवान की मूर्त्ति रहती है, ये भगवान के 'अर्चा' रूप होते हैं।

भगवान की 'अर्चा' मूर्त्ति दो प्रकार की होती है। स्वयं व्यक्त और मन्त्र द्वारा प्रतिष्ठापित, शालग्राम, बदरिकाश्रम, श्रीरङ्गम्, वेङ्कटाद्रि, नैमिषारण्य, पुष्कर, वाराह क्षेत्र (श्रीमुष्णम्) और तोताद्रि में भगवान स्वयं व्यक्त हैं। जिनमें पुष्कर, शालग्राम, नैमिषारण्य और बदरिकाश्रम–ये उत्तर भारत में हैं। श्रीरङ्गम, श्रीवेङ्कटाद्रि, वाराह क्षेत्र (श्रीमुष्णम्) और तोताद्रि–ये दक्षिण भारत में हैं।

भगवान 'विष्णु' आश्रित जन पर कृपा कर उनके हित के लिए अर्चा रूप में तिरुमलै (जिसे वेङ्कटाद्रि कहते हैं) पर विराजते हैं। 'वें' कहते हैं 'पाप' को, 'कट' का अर्थ है–'पाप को नाश' करने वाला। वेङ्कटपर्वत पाप को नाश करने वाला है। उसके ईश = स्वामी भगवान हैं इसलिए वेङ्कटेश (वेङ्कटनाथ) कहलाते हैं ।।१।।

विशेष—ऊपर में कहा गया है कि श्री का अर्थ महालक्ष्मी होता है और वे लक्ष्मी भगवान के हृदय में निवास करती है। अतः भगवान लक्ष्मी के स्वामी हुए। तिरुपति नाम भी इसी अर्थ को अभिव्यक्त करता है। तिरु = लक्ष्मी, पति = स्वामी अर्थात् लक्ष्मी के स्वामी भगवान नारायण (वेङ्कटेश)।

व्रात जनों के रक्षण हित,
रक्षा-कङ्कण बन्धवाते हैं।
शरणागत पर प्रेममयी,
शीतल अँखिया दिखलाते हैं।।

अर्थ—व्रात कहते हैं–गिरे हुए शरणागत को, जो अपने कल्याण के लिये भगवान के चरणों में समर्पित हो गये हैं, उन शरणागतों पर भगवान प्रेममयी शीतल दृष्टि रखते हैं। शरणागतगण भगवान की

उस शीतल दृष्टि का अनुभव करते हैं। भगवान ने उनकी रक्षा के लिए श्रीरामावतार में व्रत लिया है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।।

अर्थात् जो एक बार मेरी शरण में आकर कह देता है कि मैं आपका हूँ, उसे मैं सभी प्राणियों से अभय प्रदान कर देता हूँ। वह भवबन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। श्रीकृष्णावतार में भी भगवान ने कहा कि 'जो सर्व कर्मफलों को छोड़कर एक मेरे चरणों को उपाय मान लेता है' उसे मैं सब पापों से मुक्त कर देता हूँ।

इस प्रकार भगवन् ने दोनों अवतारों में शरणागतों की रक्षा का भार लिया है। वे ही भगवान कलियुग में मानव कल्याण के लिए वेङ्कटेश के रूप में दर्शन दे रहे हैं। शरणागतों की रक्षा का स्मरण कराने के लिए श्रावण पूर्णिमा को भगवान वेङ्कटेश के हाथ में अर्चक रक्षाकङ्कण बान्धते हैं। इसी से स्वामी जी ने कहा है—'व्रात जनों के रक्षण हित, रक्षा कङ्कण बन्धवाते हैं' ।।२।।

दक्षिण कर से सब प्रकार,
युग चरण उपाय बताते हैं।
त्यों वामे करसे भव के
लघु तरतर भाव बताते हैं।।

अर्थ—वेङ्कटेश भगवान विष्णुस्वरूप होने से चतुर्भुज हैं। उनके चार हाथ हैं। दो हाथ ऊपर की ओर और दो हाथ नीचे की ओर हैं। जिस प्रकार नीचे के दायें हाथ से अपने दोनों चरण-कमलों को भवसागर से पार करने के उपाय है, ऐसा बतला रहे हैं। उसी प्रकार नीचे के वायें हाथ से यह बतला रहे हैं कि जो मेरे चरण कमलों को भवसागर से पार करने के लिये उपाय मान लेते हैं, उनके लिए संसार सागर का जल घुटना भर है अर्थात् कम से कम है। उस व्यक्ति को संसार सागर से पार करने में कोई कठिनाई नहीं है ।।३।।

अन्य हाथ में शङ्ख सुदर्शन,
धर ऊँचे दिखलाते हैं।
'डरो नहीं तुम डरो नहीं तुम,
डरो नहीं हम आते हैं' ।।

अर्थ—ऊपर के दोनों हाथों में सुदर्शनचक्र और शङ्ख धारण किए हुए हैं। दक्षिण हाथ में चक्र है और वायें हाथ में शङ्ख है। उन दोनों को धारण कर आश्रितों को अभय प्रदान करते हैं। वे अपने भक्तों से कहते हैं कि 'तुम किसी से डरो मत अगर कोई तुम्हें कष्ट देगा तो मैं तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हूँ। मैं उस समय तुम्हारे पास आ जाऊँगा।

भगवान प्रथम अपने शङ्ख की ध्वनि से शत्रु के 'दर्प' को चूर्ण कर देते हैं। अगर आवश्यकता समझते हैं तो उसे सुदर्शनचक्र से ध्वस्त कर देते हैं। सुदर्शनचक्र अस्त्रों के राजा हैं। उनकी शक्ति के सामने किसी भी अस्त्र-शस्त्र की शक्ति काम नहीं करती है। सुदर्शनचक्र में करोड़ों सूर्य के समान तेज और अपरिमित शक्ति है ।।४।।

मैं हूँ अखिल लोक के नायक
मुकुट पहन बतलाते हैं।
देखो वेद पुराण सूत्र गण,
मेरे ही गुण गाते हैं।।

अर्थ—जैसे जगत् में एक भाग पर राज्य करने वाले राजागण शिर पर मुकुट पहनकर अपने स्वामित्व को प्रदर्शित करते हैं, वैसे ही भगवान वेङ्कटेश अपने शिर पर मुकुट धारण करके भक्तों को बतलाते हैं कि मैं समस्त लोकों का स्वामी हूँ। वेदों, पुराणों, गीता तथा ब्रह्मसूत्र आदि सभी सत्शास्त्रों में भगवान को उभयविभूति नायक कहा है। लीलाविभूति और त्रिपाद-विभूति इन दोनों के स्वामी श्रीनिवास भगवान हैं।

भगवान ने कहा है कि वेद, पुराण और ब्रह्मसूत्र आदि को देखो, पढ़ो और समझो। वे मेरे ही गुणगान करते हैं ।।५।।

नारायण की श्रेष्ठता एवं उनके अवतार का स्वरूप

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।।

प्राचीन काल में आत्म-तत्व का मनन करने वाले मुनिगण अपने कल्याण के लिये शुद्धसत्वमय भगवान विष्णु की आराधना करते थे। मुमुक्षु पुरुष के एक मात्र आराध्य भगवान विष्णु ही हैं। अत एव वर्तमान समय में जो मुक्ति की कामना रखने वाले हैं वे लोग प्राचीन मुनियों की भाँति कल्याण के लिये नारायण की ही आराधना करते हैं। जो मनस्वी पुरुषगण संसार-सागर से पार करना चाहते हैं वे रजोगुण,तमोगुण प्रधान देवों की उपासना न कर शुद्ध सत्त्वमुषी भगवान् नारायण का ही भजन करते हैं। राजस और तामस पुरुष ही धन ऐश्वर्य और सन्तान की कामना से नारायण को छोड़कर दूसरे की उपासना करते हैं। समस्त वेद प्रतिपाद्य भगवान वासुदेव हैं। जप-तप,यज्ञ और योग आदि धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान भगवान नारायण की कृपा से ही सफल होते हैं। भगवान, प्रकृति और उनके गुणों से अतीत हैं। फिर भी अपनी गुणमयी माया से संसार की रचना करते हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण माया के ही विलास हैं। भगवान सभी कल्याण गुणों से परिपूर्ण, प्राकृत गुणों से रहित और विज्ञानानन्दस्वरूप हैं। जैसे एक ही अग्नि विभिन्न प्रकार की आकृति वाली लकड़ियों के आश्रय से अनेकाकृतिवाली प्रतीत होती है,उसी प्रकार मानव कल्याण के लिये मत्स्य कूर्म, वाराह, मानवादि के शरीर धारण कर विभिन्न रूप में भगवान् प्रतीत होते हैं। वे ही सृष्टि के समस्त प्राणियों का पालन-पोषण भी करते हैं।

भगवान के अवतार—सृष्टि के आदि में नारायण को लोक निर्माण की इच्छा हुई। उन्होंने पञ्चभूतों (पृथिवी, जल,तेज,वायु और आकाश) का निर्माण किया। तदनन्तर जल में शयन करते हुए योगनिद्रा का विस्तार किया। उस समय भगवान के नाभि सरोवर से एक कमल प्रकट हुआ। उस कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। भगवान के विराट रूप के अङ्ग प्रत्यङ्ग में ही समस्त लोकों की कल्पना की गयी है। भगवान का वह रूप हजारों पैर, जाँघें, भुजाएँ और मुखों के कारण अत्यन्त विलक्षण है। उसमें हजारों सिर, हजारों कान, हजारों आँखे और हजारों नासिकाएँ हैं। हजारों मुकुट, वस्त्र और कुण्डल आदि आभूषणों से वह स्वरूप विभूषित है। भगवान का यही स्वरूप है जिसे नारायण कहते हैं। यह अनेक अवतारों का अक्षय कोश है अर्थात् इसी से सारे अवतार प्रकट होते हैं— ***'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्'*** वह भगवान् का विशुद्धसत्त्वमय श्रेष्ठरूप है। योगी लोग अपनी दिव्य दृष्टि से भगवान के उस रूप का दर्शन करते हैं। अवतार दो प्रकार के हैं–अंशावतार और पूर्णावतार।

(१) भगवान ने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार इन चार ब्राह्मणों के रूप में अवतार लेकर अत्यन्त कठिन ब्रह्मचर्य का पालन किया।

(२) संसार के कल्याण के लिये यज्ञों के स्वामी भगवान ने ही रसातल में गयी हुई पृथिवी को निकालने के लिये सूकर (वाराह) रूप धारण किया।

(३) भगवान् देवर्षि नारद के रूप में आकर शाश्वत तंत्र (नारदपाञ्चरात्र) का उपदेश किया। उसमें

कर्मों के द्वारा कर्म बन्धन से मुक्ति का वर्णन किया गया है।

४. धर्म की पत्नी मूर्ति के गर्भ से भगवान ने नर-नारायण का रूप धारण किया है। इस अवतार में उन्होंने ऋषि बनकर मन और इन्द्रियों का संयम कर बड़ी तपस्या की है।

५. यह अवतार सिद्धों के स्वामी कपिल के रूप में हुआ। तत्त्वों का निर्णय करने वाले सांख्य शास्त्र का उपदेश इन्होंने किया है।

६. अनुसुया के वर माँगने पर अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय के रूप में छठा अवतार हुआ है। इस अवतार में उन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद आदि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है।

७. यह अवतार रुचि प्रजापति की आकूति नाम की पत्नी के गर्भ से यज्ञ पुरुष के रूप में हुआ है। इसमें देवताओं के साथ स्वायम्भुवमन्वन्तर की रक्षा की है।

८. राजा नाभि की पत्नी मेरु देवी के गर्भ से भगवान ऋषभदेव के रूप में अवतार ग्रहण किये हैं। इस रूप में परमहंसो के मार्ग का दर्शन कराया है।

९. ९वाँ अवतार भगवान ने ऋषियों की प्रार्थना से पृथु के रूप में ग्रहण किया है। इस अवतार में भगवान ने पृथिवी से समस्त औषधियों को इहा है।

१०. चाक्षुस मन्वन्तरों के अन्त में जब समस्त पृथिवी समुद्र में डूब गयी थी, उस समय भगवान मत्स्य के रूप में १०वाँ अवतार लेकर पृथिवी रूपी नौका पर बैठकर अगले मन्वन्तर के अधिपति वैवश्वतमनु को रक्षा की है।

११. समुद्र मंथन के समय भगवान् कच्छप बनकर मंदराचल को अपनी पीठ पर धारण किये हैं।

१२. इस अवतार में धन्वन्तरि के रूप में अमृत लेकर प्रकट हुए हैं।

१३. समुद्र मन्थन के समय प्रकट हुए अमृत घट को देवताओं से छीनकर दैत्य अपने अधीन कर लिए थे। उस समय भगवान ने मोहिनी रूप धारणकर देवताओं को अमृत पिलाया था।

१४. जिस समय हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद को कष्ट दे रहा था। उस समय भगवान् ने नरसिंह रूप धारण कर हिरण्यकशिपु का संहार किया है।

१५. जब बलि ने समस्त पृथिवी को अपने अधीन करने के बाद स्वर्ग से देवताओं को हटाकर उसे अपने अधीन कर लिया,तब देवताओं के राज्य वापस कराने के लिए भगवान अदिति की प्रार्थना पर वामन रूप में प्रकट हुए थे।

१६. जब राजा लोग ब्राह्मणों के द्रोही होकर उन्हें विशेष कष्ट दे रहे थे। उस समय भगवान परशुराम के रूप में अवतार लेकर पृथिवी को २१ बार क्षत्रियों से शून्य कर दिया था।

१७. जिस समय लोगों की बौद्धिक और धारण शक्ति कम हो गयी थी, उस समय भगवान व्यास के रूप में अवतीर्ण हुए थे। उस अवतार में वेदों को शाखादि रूप में विभाजित किया था।

१८. देवताओं के कार्य सम्पन्न करने के लिये भगवान ने राम रूप धारण किया था, जिनके कार्य जगत् में प्रसिद्ध हैं।

१९+२०. बलराम और श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होकर पृथिवी का भार हटाया है।

२१. देवताओं के द्रोही दैत्यों को मोहित करने वाले भगवान ने बुद्धावतार धारण किया है।

२२. कलियुग के अन्त समय में जब राजा लोग

प्राय: लुटेरे हो जायेंगे, उस समय जगत् के रक्षक भगवान विष्णुयश नामक ब्राह्मण के घर कलिक रूप में अवतार ग्रहण करेंगे।

इन अवतारों में सनकादि, नारद, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभदेव, यज्ञपुरुष आदि भगवान के अंशावतार हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण और कलिक ये दस भगवान के विशेष स्वरूप हैं जिनमें समयानुसार ''कृष्णस्तु भगवान स्वयम्'' ऐसा कहकर श्रीव्यास जी ने श्रीकृष्णावतार का विशेष महत्व बतलाया है। जब सब लोग दैत्यों के अत्याचार से व्याकुल हो जाते हैं तब भगवान युग-युग में अनेक रूप धारण करके त्रस्त लोगों की रक्षा करते हैं। भगवान् के दिव्य जन्मों की कथा अत्यन्त रहस्यमयी है। इस प्रकार के स्थूल रूप से परे भगवान का एक सूक्ष्म अव्यक्त स्वरूप होता है, जो प्राकृत दृष्टि से देखने में नही आता है। उसी को अन्तर्यामी रूप में उपनिषदों में वर्णन किया गया है, समस्त जङ चेतनात्मक जगत् में उस रूप से भगवान् व्याप्त हैं। जैसे शरीर में आत्मा रहती है उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् में परमात्मा रहते हैं। अत एव सम्पूर्ण चेतनाचेतन जगत् ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म जगत् की आत्मा है। भगवान की लीला अमोघ है। वे लीला से ही इस संसार का सृजन, पालन और संहार करते हैं। संसार के जो निर्माणादि कर्म हैं भगवान उनसे लिप्त नहीं होते हैं। प्राणियों के अन्दर ज्ञानेन्द्रिय और मन के रूप में रहकर उनके विषयों को वे ग्रहण भी करते हैं; परन्तु उनमें आसक्त नहीं होते। भगवान परम स्वतन्त्र हैं इसलिये विषय उनपर प्रभाव नहीं डाल सकता। जैसे अनजान मनुष्य जादूगर या नट के संकल्प और वचनों से की हुई करामात को नहीं समझ पाता, उसी प्रकार अपने संकल्प और वेदवाणी के द्वारा भगवान के प्रकट किये हुए अनेक नाम और रूपों तथा उनकी लीलाओं को बुद्धिहीन मानव तर्क युक्तियों से नहीं पहचान सकता है। चक्रपाणि भगवान की शक्ति और पराक्रम उन्नत है, उनका कोई पार नहीं पा सकता। वे सारे जगत् के निर्माता होते हुए भी उससे परे हैं। उनके स्वरूप या उनकी लीला के रहस्य को वही जान सकता है जो नित्य, निरन्तर, निष्कपट भाव से उनके चरणों का चिन्तन करता है। इसलिये सूतजी ने शौनकादि ऋषियों से कहा कि आपलोग बङे सौभाग्यशाली तथा धन्य हैं जो जीवन में अनेक विघ्न-बाधाओं से भरे इस संसार में समस्त लोकों के स्वामी भगवान श्रीकृष्ण से अनन्य प्रेम करते हैं। जिससे आपलोगों को इस जन्म-मरण रूप संसार के भयंकर चक्र में नहीं पड़ना पड़ेगा।

पुन: सूतजी ने शौनकादियों से कहा कि वेदव्यास जी ने वेदों के समान भगवत्चरित्र से परिपूर्ण भागवत नामक पुराण का निर्माण किया है। इस भागवत महापुराण को श्रीवेदव्यास जी ने परम कल्याण के लिये अपने आत्मज्ञानी पुत्र शुकदेव जी को सुनाया। श्रीमद्भागवत पुराण में सारे वेद और इतिहासों का सारतत्त्व संग्रह किया गया है। इसीलिये यह पुराण वेदरूपी कल्पवृक्ष का पका हुआ सुस्वादु फल माना गया है। श्री शुकदेवजी ने इसे राजा परीक्षित को सुनाया है। जब भगवान श्रीकृष्ण अपने परमधाम को चले गये, तब इस कलियुग में जो लोग अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धे हो रहे हैं। उनके लिये यह पुराणरूप सूर्य प्रकट हुआ है। श्रीसूत जी ने कहा कि जिस समय महातेजस्वी श्रीशुकदेव जी महाराज श्रीमद्भागवतपुराण की कथा राजा परीक्षित को सुना रहे थे, उस समय मैं भी वहाँ बैठकर कथा सुन रहा था। वहाँ श्रीशुकदेव जी की कृपा से मैं इस पुराण का पूर्ण अध्ययन कर लिया।

अत: मैं अपना अध्ययन और अपनी बुद्धि के अनुसार आपलोगों को कथा सुनाऊँगा।

श्रीवैष्णवव्रत निर्णय तालिका—वर्ष : २०१४-१५

क्र.सं.	मास	पक्ष	तिथि	दिन	दिनाङ्क	व्रतनाम
१.	चैत्र	शुक्ल	११	शुक्रवार	११-४-२०१४	कामदा
२.	वैशाख	कृष्ण	११	,,	२५-४-२०१४	बरुथिनी
३.	वैशाख	शुक्ल	११	शनिवार	१०-५-२०१४	मोहिनी
४.	ज्येष्ठ	कृष्ण	१२	रविवार	२५-५-२०१४	अचला
५	ज्येष्ठ	शुक्ल	११	सोमवार	९-६-२०१४	निर्जला
६.	आषाढ़	कृष्ण	११	,,	२३-६-२०१४	योगिनी
७.	आषाढ़	शुक्ल	११	भौमवार	८-७-२०१४	श्री विष्णुशयनी
८.	श्रावण	कृष्ण	११	,,	२२-७-२०१४	कामदा
९.	श्रावण	शुक्ल	११	गुरुवार	७-८-२०१४	पुत्रदा
१०.	भाद्रपद	कृष्ण	११	,,	२१-८-२०१४	जया
११.	,,	शुक्ल	११	शुक्रवार	५-९-२०१४	पद्मा
१२.	आश्विन	कृष्ण	११	,,	२९-९-२०१४	इन्दिरा
१३.	,,	शुक्ल	१२	रविवार	५-१०-२०१४	पापाङ्कुशा
१४.	कार्त्तिक	कृष्ण	११	,,	१९-१०-२०१४	रम्भा
१५.	,,	शुक्ल	११	सोमवार	३-११-२०१४	प्रबोधिनी
१६.	अगहन	कृष्ण	११	भौमवार	१८-११-२०१४	उत्पन्ना
१७.	,,	शुक्ल	११	,,	२-१२-२०१४	मोक्षदा
१८.	पौष	कृष्ण	११	गुरुवार	१८-१२-२०१४	सफला
१९.	,,	शुक्ल	११	,,	१-१-२०१५	पुत्रदा
२०.	माघ	कृष्ण	११	शुक्रवार	१६-१-२०१५	षट्तिला
२१.	,,	शुक्ल	११	,,	३०-१-२०१५	जया
२२.	फाल्गुन	कृष्ण	११	रविवार	१५-२-२०१५	विजया
२३.	,,	शुक्ल	११	,,	१-३-२०१५	आमलकी
२४.	चैत्र	कृष्ण	११	सोमवार	१६-३-२०१५	पापमोचनी

१.	चैत्र	शुक्ल	नवमी	भौमवार	८-४-२०१४	श्रीराम नवमी व्रत
२.	वैशाख	शुक्ल	१४	मंगलवार	१३-५-२०१४	श्रीनृसिंहावतार
३.	भाद्रपद	कृष्ण	९	,,	१९-८-२०१४	श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
४.	भाद्रपद	शुक्ल	१२	शनिवार	६-९-२०१४	श्रीवामन द्वादशी
५.	वैशाख	शुक्ल	५	रविवार	४-५-२०१४	श्रीरामानुजाचार्य जयन्ती
६.	फाल्गुन	शुक्ल	१३	मंगलवार	३-३-२०१५	श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जयन्ती
७.	आश्विन	कृष्ण	८	मंगलवार	१६-९-२०१४	जीवितपुत्रिका